प्रकाशक
शारदा-मन्दिर
२९/६७ गणेश दीक्षित, काशी

प्रथम संस्करण—१९४४
द्वितीय संस्करण—१९४६

मुद्रक
ह० म[illegible]प्रे
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, बनारस

विषय-सूची

इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः ।
पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः ॥
(ऋ० १०।१४।१५)

कण्वः कक्षीवान् पुरुमीढो अगस्त्यः
श्यावाश्वः सोभरिरर्चनानाः ।
विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरत्रिः
अवन्तु नः कश्यपो वामदेवः ॥
(१८।३।१५)

भग एव भगवाँ अस्तु देवा-
स्ते वयं भगवन्त स्याम ।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति
स नो भग पुरएता भवेह ।
(ऋ० ७।४१।१५)

भूमिका

१

कहानी का साहित्य में एक विशिष्ट स्थान है। छोटी-छोटी घरेलू घटनाओं के द्वारा पाठकों के चित्त पर जो प्रभाव कहानियाँ जमाती हैं, वह प्रभाव बड़े-बड़े ग्रन्थों के द्वारा भी सम्पन्न नहीं किया जा सकता। कहानी का एक तो कलेवर ही छोटा है, दूसरी उसमें रोचकता का प्राचुर्य रहता है। पाठक थोड़े ही समय में मनोरञ्जक घटनाओं को पढ़ कर चित्त में अभूतपूर्व आनन्द का अनुभव कर लेता है। उपन्यास में लम्बी चौड़ी घटनाओं के वर्णन की ओर ग्रन्थकार की विशेष प्रवृत्ति रहती है, परन्तु वर्तमान संघर्षयुग में न तो हमारे पास समय ही है और न धैर्य ही कि इन बृहत्काय ग्रन्थों का अध्ययन कर चित्त का विनोद किया जाय या मनोरंजक उपदेश ग्रहण किया जाय। हमारे पास पर्याप्त समय कहाँ है कि उपन्यासों का धीरतापूर्वक अनुशीलन कर मानसिक विनोद का साधन निकाला जाय? इसी लिए वर्तमान युग में कहानियों की ओर इतनी अभिरुचि है। वर्तमानकाल को यदि 'कहानियों का युग' कहा जाय, तो अत्युक्ति न होगी। प्रत्येक सभ्य भाषा के साहित्यिक कथा-साहित्य की विपुल सृष्टि कर अपने साहित्य की श्रीवृद्धि कर रहे हैं। कहानियों के प्रति हमारा अनुराग आगे और भी बढ़ता जायगा, इसकी पूरी सम्भावना है। क्योंकि जीवन का वह संघर्ष जो इनको लोकप्रिय बनाने का मुख्य कारण है भविष्य में किसी

प्रकार कम न होगा, उसके दिन प्रति दिन बढ़ने के ही लक्षण दीख पड़ते हैं।

कहानियों के जनप्रिय होने का एक दूसरा भी कारण है। कथा और मानव-समाज का घनिष्ठ सम्बन्ध है। मानव स्वभावतः कथाप्रिय है—कथाओं के कहने और सुनने में विशेष आनन्द लेता है। हम उस युग की कल्पना नहीं कर सकते, जब मानवों को आनन्द देनेवाली कहानियों का उदय न हुआ हो। कहानियों ने ही पहले-पहल मनुष्य के चित्त को संसार के प्रपञ्च, नित्य के क्लेश तथा दुःख से दूर हटाकर उसे विशुद्ध आनन्द की उपलब्धि की ओर अग्रसर किया है। सभ्य जातियों की तो बात ही न्यारी है, असभ्यता के पंक में धँस कर जंगली जीवन बितानेवाली भी जातियाँ कहानियाँ कह कर अपना तथा अपने कुटुम्बियों का मनोविनोद किया करती हैं। अतः मानवों के चित्तविनोद का प्रारम्भिक साधन होने से कहानियों की शिक्षा किसी भी देश या युग में कम नहीं है!

२

पाश्चात्य-साहित्य में कथा को विशेष गौरव दिया जाने लगा है और उससे प्रभावित होकर पूर्वी-साहित्य में भी इसकी महत्ता स्वीकृत होने लगी है - यह कथन आज कल के लिए सच्चा कहा जा सकता है परन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि कथा साहित्य का उदय इसी भारतवर्ष में हुआ और इसने ही संसार के सामने इस साहित्यिक साधन की उपयोगिता सर्वप्रथम प्रदर्शित की। भारतीय साहित्य की विश्व-साहित्य के लिए जो जो देन हैं, उनमें इस साहित्यिक 'कथा' की देन विशेष महत्त्व रखती हैं। पाश्चात्य जगत् के प्राचीन कथासाहित्य से परिचित विद्वानों को इसे बताने की आवश्यकता नहीं कि यह भारतवर्ष ही कथा की उद्गम भूमि है। यहीं से इसने भ्रमण करना आरम्भ किया और वह समस्त सभ्य देशों के साहित्य में व्याप्त हो गई। षष्ठ शताब्दी

में हम भारत में उन कथाओं की लोकप्रियता पाते हैं जिनका संग्रह 'पञ्चतन्त्र' में हमें आज भी उपलब्ध हो रहा है। 'पञ्चतन्त्र' का भी अपना विशिष्ट इतिहास है जिसे जर्मन विद्वान् डाक्टर हर्टेल ने बड़े परिश्रम से खोज निकाला है। पञ्चतन्त्र की कहानियाँ बड़ी प्राचीन हैं। 'बृहत्कथा' (२री शताब्दी) तथा 'तन्त्राख्यायिका' के रूप में उसका मौलिक रूप आज भी हमारे मनन के लिए विद्यमान है।

'पञ्चतन्त्र' विश्व साहित्य को भारतीय साहित्य की महती देन है। इन कहानियों के भ्रमण की कथा नितान्त रोचक तथा उपदेशप्रद है। उसका अनुशीलन हमें बताता है कि करटक तथा दमनक ('सियार पांडे') की चतुरता भारत के तथा अरब के निवासियों को समभाव से आनन्दित करती रही है। राजा शिवि के आत्मत्याग की कथा राजा भोज के सभासदों को उसी प्रकार उपदेश देती थी, जिस प्रकार फ़ारस के बादशाह खुसरो नौशेरवाँ के दरबारियों को। ऐतिहासिक तथ्य यह है कि जब षष्ठशतक में भारत का तथा फारस का घनिष्ठ सम्बन्ध था तब इन रोचक तथा उपदेशप्रद कथाओं की ओर इस न्यायी बादशाह (५३१ ई०—५७९ ई०) की दृष्टि आकृष्ट हुई। इनके दरबारियों में एक संस्कृत के ज्ञाता हकीम थे उनका नाम था बुरजोई। इन्हीं हकीम साहब ने पहले पहल पंचतन्त्र का प्रथम अनुवाद पहलवी (प्राचीन फारसी) भाषा में ५३३ ई० में किया। इस अनुवाद के पचास वर्ष के भीतर ही एक ईसाई पादरी ने पहलवी से सीरिअन भाषा में ५७० ई० में कलिलग और दमनग के नाम से अनुवाद किया। ईसाई साधु का नाम था—बुद। सीरिअन से अनुवाद अरबी में किया गया था। इस अनुवाद का नाम कलीलह और दमनह है जो प्रथम तन्त्र के प्रधान पात्र 'करटक तथा दमनक' के नाम पर दिया गया है। यह हुई सातवीं शताब्दी में पश्चिमी जगत् में भारतीय कहानियों के भ्रमण की बात। इस शताब्दी से पहले ही वे भारत से पूरब भी पहुँच चुकी थीं, क्योंकि

चीन भाषा के दो विश्वकोषों में (जिनमें प्राचीनतर ६६८ ई० में रचित है) बहुत-सी भारतीय कहानियों का अनुवाद चीनी भाषा में किया गया मिलता है। इसमें आश्चर्य नहीं, क्योंकि इन विश्वकोषों ने अपने लिए २०२ बौद्ध ग्रन्थ को आधार बतलाया है। इस प्रकार दो शताब्दी के भीतर ही ये भारतीय कहानियाँ अरब से लेकर चीन तक फैल गईं।

अरबी भाषा मध्ययुग की सभ्य भाषा थी। अरबी में अनुवाद होते देर नहीं हुई कि ये कहानियाँ पश्चिमी जगत् के साहित्य में प्रवेश कर गईं और भिन्न भिन्न देशों की भाषाओं में इनके अनुवाद होने लगे। लैटिन, ग्रीक, जर्मन, फ्रेंच, स्पैनिश तथा अंग्रेजी आदि भाषाओं में इसके अनुवाद धीरे धीरे मध्ययुग के १६ वीं शताब्दी तक होते रहे। ग्रीस के सुप्रसिद्ध कथासंग्रह 'ईसाप की कहानियाँ' तथा अरब की मनोरञ्जक कहानियाँ 'अरेबियन नाइट्स' के आधारभूत ये ही कहानियाँ हैं, इस तथ्य के अन्वेषक विद्वानों की यह मान्य सम्मति है। मध्ययुग में ये भारतीय कहानियाँ 'विदापइ की कहानियों—Stories of Bidapai (विद्यापति की कथायें) के नाम से पश्चिमी जगत् में विख्यात थीं। ये कहानियाँ वहाँ के लोगों में इतनी प्रसिद्ध हुईं कि उन्हें इनके भारतीय होने का तनिक खयाल भी न हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि भगवान् बुद्ध ईसाई सन्तों के बीच में विराजने लगे। मध्ययुग की एक सुविख्यात कहानी थी—Story of Barlaam and Joseph (बरलाम और जोजफ की कहानी)। वह इतनी शिक्षाप्रद हुई कि कथा के पात्र ईसाई सन्तों में गिने जाने लगे। इनमें जोज़फ़ स्वयं बुद्ध हैं। जोज़ बुदसफ़ के रूप में 'बोधिसत्व' का अपभ्रंश है। 'बोधिसत्त्व' बुद्धत्व प्राप्ति के लिए क्रियाशील व्यक्ति का ही द्योतक है। क्या यह कम आश्चर्य का विषय है कि बुद्ध ने ईसाई मत में इन्हीं कहानियों की कृपा से सन्तों की माननीय पंक्ति में स्थान पा लिया!

बेचारे ईसाइयों को इसका बिल्कुल ध्यान न था कि जिसे वे अपने सन्तों में गणना कर रहे थे वे उनसे विरुद्ध धर्म के संस्थापक थे।

मध्ययुग की बात जाने दीजिए। उससे भी प्राचीन काल में भारतीय कहानियों का परिचय पश्चिमी जगत् को मिल गया था। 'सालोमन के न्याय' (सालोमन्स जजमेण्ट) के नाम से प्रसिद्ध कहानी का मूल भारतीय ही है। सिकन्दर की जितनी कहानियाँ ग्रीक, अरबी, हिब्रू तथा फारसी भाषाओं में मिलती हैं उनमें सर्वत्र उनकी माता के विषय में एक ही कहानी दी गई है। उसका पुत्रशोक इतना अधिक था कि वह किसी प्रकार कम ही न हो रहा था। तब किसी विद्वान् ने उससे कहा कि यदि तुम हमारे लिए ऐसे घर से सरसों ला देगी जहाँ किसी की कभी मृत्यु न हुई हो, तो मैं तुम्हारे पुत्र को जिला दूँगा। बेचारी घर घर सरसों के तालाश में घूमती रही। अन्ततः देहधारियों के लिए मृत्यु आवश्यक अवसान है, इस तथ्य का पता उसे स्वयं लग गया। यह कहानी भी भारतीय है। बुद्ध के द्वारा 'कृशा गौतमी' का उपदेश ही इस कहानी का आधार है। इस प्रकार पञ्चतन्त्र की कहानियाँ केवल भारतवासियों को ही आनन्दित नहीं करतीं, प्रत्युत सभ्य संसार के अनेक देशों के निवासी उनसे आनन्द उठाते हैं तथा अपने जीवन को सुखमय बनाते है।

२

पञ्चतन्त्र जिन कथाओं का संग्रह है वे भारत में नितान्त प्राचीन हैं। पंचतन्त्र के भिन्न भिन्न शताब्दियों में तथा भिन्न भिन्न प्रान्तों में अनेक संस्करण हुए। कुछ तो आज भी उपलब्ध हैं। इनमें सबसे प्राचीन संस्करण 'तन्त्राख्यायिका' के नाम से विख्यात है जिसका मूल स्थान कश्मीर है। पंचतन्त्र के भिन्न भिन्न चार संस्करण उपलब्ध हैं—(१) पञ्चतन्त्र का पहलवी अनुवाद, जो उपलब्ध तो नहीं है, परन्तु जिसकी कथाओं का परिचय सीरिअन तथा अरबी अनुवादों

की सहायता से प्राप्य है, (२) दूसरा संस्करण गुणाढ्य की बृहत्कथा में अन्तर्निविष्ट है। यह बृहत्कथा पैशाची भाषा में थी; मूल इसका नष्ट हो गया है परन्तु ११ वीं शताब्दी के क्षेमेन्द्ररचित बृहत्कथामञ्जरी तथा सोमदेव का कथासरित्सागर इसी ग्रन्थ के अनुवाद हैं। (३) तृतीय संस्करण 'तन्त्राख्यायिका' तथा उसीसे सम्बद्ध जैन कथासंग्रह है। आजकल का प्रचलित पञ्चतन्त्र इसी का आधुनिक प्रतिनिधि है। (४) चौथा संस्करण दक्षिणी पञ्चतन्त्र का मूलरूप है। नेपाली पंचतन्त्र तथा हितोपदेश इस संस्करण के प्रतिनिधि हैं। इस प्रकार पञ्चतन्त्र एक सामान्य ग्रन्थ न होकर एक विपुल साहित्य का प्रतिनिधि है।

पञ्चतन्त्र से प्राचीनतर कथासंग्रह बौद्ध जातकों में उपलब्ध है। ये जातक भगवान् बुद्ध के प्राचीन जन्म की मनोरञ्जक कहानियाँ हैं। इनका उद्देश्य यह दिखलाना है कि अनेक जन्म में पारमिताओं के अभ्यास करने से बुद्धत्व की प्राप्ति होती है। जातक कथाओं की संख्या ५५० है। इनके भीतर विपुल ज्ञातव्य ऐतिहासिक, भौगोलिक, सामाजिक सामग्री मिलती है। जिसके अनुशीलन करने से बुद्ध के समय के अथवा उससे भी प्राचीन काल के भारतीय इतिहास का रमणीय चित्र उपलब्ध होता है। इन जातकों में अत्यन्त प्राचीन काल से दन्तकथा या लोककथा के रूप में जो कहानियाँ चली आती थीं उनका विशाल समुच्चय है।

जातकों से भी प्राचीन सामग्री वैदिक साहित्य में स्वयं उपलब्ध होती है। ब्राह्मण और उपनिषदों में जो कहानियाँ विस्तार के साथ मिलती हैं उन कहानियों का संकेत ऋग्वेद की संहिता में स्वयं प्राप्त होता है। ऋग्वेद में बहुत से सूक्त ऐसे उपलब्ध होते हैं जिनमें दो या तीन पात्रों में परस्पर कथनोपकथन विद्यमान हैं। इन सूक्तों को 'संवाद सूक्त' कहते हैं। भारतीय साहित्य के अनेक अङ्गों का उद्गम इन्हीं संवाद सूक्तों से होता है। इनके अतिरिक्त सामान्य स्तुतिपरक सूक्तों

में भी भिन्न-भिन्न देवताओं के विषय में अनेक मनोरंजक तथा शिक्षाप्रद आख्यानों की उपलब्धि होती है। संहिता में जिन कथाओं की केवल सूचनामात्र है उनका विस्तृत वर्णन बृहद्देवता में तथा षड्गुरुशिष्य की 'कात्यायन सर्वानुक्रमणी' की वेदार्थदीपिका टीका में किया गया है। निरुक्त में यास्क ने तथा सायण ने अपने भाष्य में इन कथाओं के रूप तथा प्राचीन आधार को प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है। द्या द्विवेद का उद्योग इस विषय में अत्यन्त श्लाघनीय है। ये गुजरात के रहने वाले थे तथा १५ वीं शताब्दी में उत्पन्न हुए थे। इन्होंने समस्त वैदिक कहानियों का अध्ययन कर उनसे प्राप्य शिक्षाओं को प्रदर्शित करते हुए एक बहुत ही उपयोगी पुस्तक लिखी है। इस ग्रन्थ का नाम नीतिमञ्जरी है। इसमें इन्होंने षड्गुरु शिष्य की वेदार्थदीपिका (११८४ ई०) से तथा सायण के वेदभाष्य (१४ शताब्दी) से अनेक उद्धरण अपने ग्रन्थ में दिये हैं। नीतिमञ्जरी की एक हस्तलिखित प्रति से पता चलता है कि इसकी रचना १५५० वि० सं० (१४९४ ई०) में की गयी थी। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर वेद को कहानियों का मूल स्रोत मानना उचित प्रतीत होता है। वेद में आई हुई कहानियाँ पुराणों में आकर कुछ रूपान्तरित हो गयी हैं। रामायण तथा महाभारत में इनके कई अंशों में परिवर्तन दीख पड़ता है परन्तु कथानक का मूल एक ही है। बौद्ध साहित्य तथा जैन साहित्य में भी इन कहानियों के प्रतिनिधि विद्यमान हैं। कहानियों का यह रूपान्तर कहाँ, कब और किन कारणों से सम्पन्न हुआ, यह कथा-साहित्य के विद्यार्थियों के लिये गवेषणा का विषय है।

४

इस ग्रन्थ की संगृहीत कहानियाँ संहिता, ब्राह्मणों तथा उपनिषदों से ली गयी हैं। घटनाक्रम सब वेद का ही है। उसे आधुनिक रूप में सजाने तथा परिष्कृत करने का काम लेखक ने किया है। कहानियों

की आत्मा वैदिक है, लेखक ने केवल इन्हें शरीर प्रदान किया है। कहानियों का वातावरण वैदिक है। इनकी सजावट के समय इस बात का ध्यान रक्खा गया है कि वेद से विरोधी विचार तथा भाव को स्थान न दिया जाय। लेखक इस विषय में कितना सफल हुआ है, यह बतलाना विद्वान् आलोचकों का ही काम है। इन कहानियों के लिखने में उसका प्रधान आशय यह है कि वैदिक सभ्यता तथा संस्कृति की झलक सर्व-साधारण लोगों को भी विशुद्ध रूप में मिले। आधुनिक काल में हम अपने वैदिक आदर्शों को भूलते चले जाते हैं। इन आदर्शों का परिचय साधारण जनता को भी प्राप्त हो, यही लेखक के इस साहित्यिक प्रयास का लक्ष्य है।

जो कहानियाँ इस पुस्तक में लिखी गयी हैं वे वैदिक साहित्य में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इन कहानियों का अलग इतिहास है। ये कहानियाँ वैदिक संहिता से आरम्भ होकर उपनिषदों से होती हुई पुराणों में आयी हैं। इस भ्रमणकाल से उनमें परिस्थिति के कारण कुछ परिवर्तन भी हुआ है। उदाहरण के लिये दध्यङ् आथर्वण (दधीच) की कहानी को लीजिये। इसके वैदिक तथा पौराणिक स्वरूप के तुलनात्मक अध्ययन करने वाले के लिये दोनों स्वरूपों का पार्थक्य स्पष्ट हो जायगा। इन कहानियों के आधार तथा महत्त्व का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है—

(१) तेजस्विता—इस कहानी के आधार हैं—ऋग्वेद ८।९१, बृहद्देवता ६।९९-१०६; सर्वानुक्रमणी ८।९१; सायणभाष्य ८।९१; नीति-मञ्जरी पृ० २७८-८१; । अपाला आत्रेयी के आदर्श नारी-चरित्र का प्रदर्शन इसमें किया गया है। अपाला का यह चरित्र वैदिक साहित्य में खूब विख्यात है। वह बड़ी विदुषी थी तथा ऋग्वेद के ऊपर निर्दिष्ट सूक्त की ऋषि (द्रष्टा) थी।

(२) प्रत्याख्यान—इसका आधार है—ऋग्वेद ५।२; शाट्यायन

ब्राह्मण (सायण के भाष्य (५।२) में उद्धृत); ताण्ड्य ब्राह्मण १३ ३।१२; बृहद्देवता ५।१४-२३ ऋग्विधान १२।५२; नीति मञ्जरी पृ० १७४-७८। वैदिककालीन पुरोहित के गौरव का प्रदर्शन इस कहानी में अच्छी तरह से किया गया है।

(३) सङ्गति—इसका आधार है—ऋग्वेद ८।१९, ८।८१; निरुक्त ४।१५; बृहद्देवता ६।५१; कात्यायन सर्वानुक्रमणी ८।१६; नीतिमञ्जरी पृ० २६०—६४; भागवत पुराण ६ स्कन्ध, अध्याय ६।३८-५१। सोभरि काण्व की यह कहानी वेद तथा पुराण दोनों में खूब प्रसिद्ध है। भागवत (१०म स्कन्ध १७ अध्याय) से स्पष्ट है कि सोभरि की तपस्या का स्थान यमुना का किनारा था। कालिय ह्रद में गरुड़ के न आने का जो शाप दिया गया था वह इन्हीं का था। सुवास्तु (आजकल सिन्धु की सहायक नदी स्वात) के प्रदेश के नरेश त्रसदस्यु इनके समकालीन थे। यह बात वैदिक साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट है।

(४) उदर-ज्वाला। इसका आधार है—ऋग्वेद १।२४ ३०, ऐतरेय ब्राह्मण ७।३, नीति मंजरी पृ० २०-२५। वैदिक साहित्य में नितान्त प्रसिद्ध यह आख्यान ऋषि शुनःशेप के विषय में है। ये ऋग्वेद के सात सूक्तों के ऋषि हैं। इस कथानक में उल्लिखित इक्ष्वाकु नरेश राजा हरिश्चन्द्र वे ही हैं जिनके जीवन की अन्तिम झाँकी विश्वनाथ की अमरपुरी में दिखलाई पड़ी थी। आज भी हरिश्चन्द्र घाट से टकराकर कलकल निनाद करने वाली पुण्यसलिला भागीरथी उनकी सत्यवादिता की मनोरम कहानी भावुक जनों के कानों में सुनाती हुई प्रवाहित होती है।

(५) अन्नदेव—इस कहानी का आधार छान्दोग्य उपनिषद् (प्रथम प्रपाठक, खण्ड १०-११) है। अन्न की महिमा दिखलाना तथा याग विधान से भूयसी विपत्ति के टल जाने का इसमें वर्णन पाया जाता है।

(६) सत्याग्रह । इसका आधार है—कठोपनिषद् । इस कहानी के उदय तथा अभ्युदय की कथा बड़ी ही मनोरंजक है । कठोपनिषद् के पहिले भी तैत्तिरीय संहिता में इसकी सूचना मिलती है । नाचिकेत पुराण में यह कहानी परिवर्धित रूप में मिलती है परन्तु इसके कथानक में कुछ अन्तर पाया जाता है । उपनिषद् की कहानी में ब्रह्मज्ञान का उपदेश प्रधान लक्ष्य है परन्तु पुराण में कर्म सिद्धान्त का प्रतिपादन प्रधान ध्येय है । अपभ्रंश साहित्य में भी यह कहानी उपलब्ध होती है । इतना ही नहीं, सदलमिश्र ने इसी कहानी को लेकर अपने 'नासिकेतोपाख्यान' की रचना की है जो प्रारम्भिक खड़ी बोली-गद्य का नमूना माना जाता है ।

७ साधना—इसका आधार है—ऋ. वे. ५।६१ बृहद्देवता ५।५०-८१, सर्वानुक्रमणी ५.६१ तथा इसी मन्त्र पर सायण भाष्य; सांख्यायन श्रौतसूत्र १६।११।९; नीतिमंजरी पृ० १८५—६८ ।

इस कहानी में ऋषि का गौरव, प्रेम की महिमा, कवि की साधना—बड़ी ही सुन्दर रीति से अभिव्यक्त की गयी है । वैदिक साहित्य की यह अत्यन्त विख्यात प्रणय-कहानी है जिसमें प्रेम की सिद्धि के लिये तपस्या का अनुष्ठान कर श्यावाश्व आत्रेय मन्त्र-द्रष्टा ऋषि हो गये थे । श्यावाश्व के पिता अर्चनाना आत्रेय ऋग्वेद ५ म मण्डल के ६३-६४ सूक्तों के ऋषि हैं ।

८ पतिव्रता—इसका आधार है—ऋ. वे. १।११६, ११७, ११८; ऋ. वे. १०।३९।४; ताण्ड्य ब्राह्मण १४।६।११; निरुक्त ४।१९; शतपथ ब्राह्मण काण्ड ४; नीतिमञ्जरी पृ. ८१ ८४; पुराण भागवत स्क० ९, अ० ३।

च्यवन भार्गव तथा सुकन्या मानवी की यह कहानी भारतीय नारी-चरित्र का एक नितान्त उज्ज्वल आदर्श उपस्थित करती है । च्यवन का वैदिक नाम च्यवान है । सुकन्या की वैदिक कहानी इसकी पौराणिक कहानी से कहीं अधिक उच्च तथा आदर्शमयी है । पुराण में सुकन्या ने ऋषि की चमकती हुई आँखों को छेद कर स्वयं अपराध किया था

जिसके लिये उसे दण्ड मिलना स्वाभाविक था। परन्तु वेद में उसका आत्मत्याग बहुत ही उच्चकोटि का है। सैनिक बालकों के द्वारा किये गये अपराध के निवारण के लिये सुकन्या वृद्ध ऋषि को आत्म समर्पण करती है। वैदिक तथा पौराणिक—दोनों कथानकों के पार्थक्य पर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है।

९ पुरस्कार—इसका आधार है ऋ० वे० १०।९५; शतपथ ब्राह्मण (११।५।१) बृहद्देवता ७।१४७—१५३. वेदार्थदीपिका १०।९५; नीतिमञ्जरी पृ० ३२५-३२९. विष्णु पुराण ४।६; मत्स्यपुराण; अ० २४; भागवत ९।१४, कालिदास—विक्रमोर्वशी।

पुरुरवा और उर्वशी की कहानी वेद तथा पुराणों में खूब प्रसिद्ध है। कालिदास ने विक्रमोर्वशी में इसी कथानक को नाटकीय रूप प्रदान किया है। इस कहानी के विकास का एक विशिष्ट इतिहास है। कालिदास ने मत्स्यपुराण का आधार लेकर इस कथानक को नितान्त प्रेममय बना दिया है। परन्तु वैदिक काल में इसका कुछ दूसरा ही रूप था। पुरुरवा पहिला व्यक्ति था जिसने त्रेधा अग्नि (आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि) की स्थापना की। यज्ञ संस्था का आरम्भ कर वह मानवों का महान् उपकारी बन गया। पुरुरवा का यह परोपकारी रूप वैदिक कहानी की विशेषता है। इस आख्यान के भीतर एक रहस्य है। पुरुरवा सूर्य है और उर्वशी उषा है। सूर्य और उषा का परस्पर संयोग बहुत ही क्षणिक काल के लिये होता है। वियुक्त उषा की खोज में सूर्य दिन भर उसके पीछे घूमा करता है। इस रहस्यमय आख्यान को कालिदास ने प्रणय का रूप प्रदान किया है।

१० अधिकार—इस कहानी का आधार है ऋ० वे० १।११६।१२, १।११७।२२; १०।४८।२; शतपथ ब्राह्मण १४।४।५।१३; बृहदारण्यक उपनिषद् २ अध्याय, ५ ब्राह्मण, बृहद्देवता ३।१८-२४; नीतिमञ्जरी पृ० ८६-९०, भागवत पुराण ६।१०।

इस कहानी के नायक दध्यङ् आथर्वण हैं जिनका पौराणिक लोक-प्रिय नाम ऋषि दधीच है। इन्हीं की हड्डी से वज्र बना जिससे इन्द्र ने वृत्र को मारकर आर्य-सभ्यता की रक्षा की। वैदिक तथा पौराणिक कहानी के कई अंशों में अन्तर है। वैदिक कहानी में अश्व के सिर से ही वज्र के निर्माण की बात लिखी है परन्तु पुराण में अपनी हड्डी देने के लिये ऋषि के देहत्याग की कथा है। अनधिकारी को रहस्य की शिक्षा देने के कुपरिणाम का वर्णन स्पष्ट है।

(११) अनुभूति—इसका आधार केनोपनिषद् है। ब्रह्म समीप में है तथा दूर भी है। जो अहंकारी हैं उनसे वह दूर है और जो विनयी हैं उनके पास हैं। इस तथ्य का प्रतिपादन ही इस कहानी का लक्ष्य है।

(१२) ब्रह्मवादी—इसका आधार छन्दोग्य उप० (अ० ४।१-३) है।

× × ×

वैदिक कहानियों की यह रचना हिन्दी साहित्य में ही नहीं प्रस्तुत अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य में भी अद्वितीय है। जहाँ तक मुझे मालूम है यह पहला अवसर है जब वेद की कहानियाँ ठीक उसी विशुद्ध रूप में हिन्दी पाठकों के सामने प्रस्तुत की जा रही हैं।

इस नवीन संकरण में एक नई कहानी जोड़ दी गई है। मुखपृष्ठ पर दिये गये चित्र का सम्बन्ध 'अनुभूति' नामक कहानी से है। इस चित्र के ब्लाक के लिए हम 'कल्याण' के सम्पादक श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार जी के आभारी हैं।

काशी
रामनवमी
सं० २००३

बलदेव उपाध्याय

वैदिक-कहानियाँ

तेजस्विता

मेरा नाम अपाला है। मैं महर्षि अत्रि की पुत्री हूँ। मेरे माता-पिता की बड़ी अभिलाषा थी कि उनके सूने घर को सन्तान का जन्म सनाथ करे। घर भर में विषाद की एक गहरी रेखा छायी रहती थी। मेरे जन्म होते ही उस आश्रम में प्रसन्नता की सरिता बहने लगी, हर्ष का दीपक जल उठा जिससे कोना-कोना प्रकाश से उद्भासित हो गया। मेरा शैशव ऋषि-बालकों के सङ्ग में बीता। मेरे बाल्यावस्था में प्रवेश करते ही पितृदेव के चित्त में चिन्ता ने घर किया जब उन्होंने मेरे सुन्दर शरीर पर श्वित्र (श्वेत कुष्ठ) के छोटे-छोटे छींटे देखे। हाय! रमणीय रूप को इन श्वित्र के उजले चिह्नों ने सदा के लिए कलंकित कर डाला। पिताजी ने अपनी शक्ति भर इन्हें दूर करने का अश्रान्त परिश्रम किया तथा निपुण वैद्यों के अचूक अनुलेपनों का लेप लगाया परन्तु फल एकदम उलटा हुआ। औषध के प्रयोगों के साथ-साथ विपरीत अनुपात से हमारी व्याधि बढ़ने लगी, छोटे-

छोटे छोटे बड़े धब्बों के समान दीख पड़ने लगे। अन्ततोगत्वा मेरे पिता ने औषध का प्रयोग बिल्कुल छोड़ दिया।

मेरे बाह्य शरीर को निर्दोष बनाने में अक्षम बन पितृदेव ने मेरी शिक्षा-दीक्षा की ओर दृष्टि फेरी। लगे वे प्रेम से पढ़ाने। आश्रम का पवित्र वायुमण्डल, ऋषि-बालकों का निश्छल सहवास, पिता की अलौकिक अध्यापन-निपुणता—सब ने मिल कर मेरे अध्ययन में पर्याप्त सहायता दी। विद्या-ग्रहण मेरे जीवन का एकमात्र व्रत बन गया। धीरे-धीरे मैंने समग्र वेद-वेदाङ्गों का प्रगाढ़ अध्ययन किया। मेरे मुख से देववाणी की धारा उसी प्रकार विशुद्ध रूप से निकलती जिस प्रकार सप्तसिन्धु-मण्डल की पवित्रतम नदी सरस्वती का विमल प्रवाह। सुकुमारी बालिका के कोकिल-विनिन्दित कण्ठ से जब वैदिक मन्त्रों की ध्वनि निकलती तब उस रम्य तपोवन में कोकिल की कूक कर्कश लगती, मयूरी की ललित केका भेकी के स्वर के समान वैमनस्य उत्पन्न करती। मेरी शास्त्रचिन्ता को श्रवण कर मुनिजन मेरी गाढ़ वैदुषी का परिचय पाकर आश्चर्य से विस्मित हो उठते।

धीरे-धीरे उस आश्रम में वसन्त के मंगलमय प्रभात का उदय हुआ। हरी-भरी लतिकाएँ पुष्पभार से लदी आनन्द में झूमने लगीं और सहकार का आश्रय लेकर अपने को सनाथ तथा अपने जीवन को कृतकृत्य बनाने लगीं। ठीक उसी समय मेरे जीवन में भी यौवन का उदय हुआ। बाल्यकाल की चपलता मिट चली और उसके स्थान पर गम्भीरता ने अपना आसन जमाया। पिता ने मेरे इस शारीरिक परिवर्तन को देखा और वे मेरे लिए एक उपयुक्त गुणी पात्र की खोज में लग गये।

अनुरूप वर के मिलने में देर न लगी। उचित अवसर पर मेरे विवाह की तैयारियाँ होने लगीं।

आश्रम का एक सहकार-कुंज वैवाहिक-विधि के अनुष्ठान के लिए चुन लिया गया। वेदी बनायी गयी। ऋत्विजों ने विधिवत् जव-तिल का हवन किया। हविर्गन्ध से आश्रम का वायुमण्डल एक विचित्र पवित्रता का अनुभव करने लगा। उसी कुञ्ज में मैंने पहले-पहल अपने पतिदेव को देखा—गठीला बदन, उन्नत ललाट, माथे पर त्रिपुण्ड की भव्य रेखाएँ, विनय की साक्षात् मूर्ति, विद्या के अभिराम आगार। मेरी तथा उनकी चार आँखें होते ही मैंने लज्जामिश्रित आदर का बोध किया। लज्जा के मारे मेरी आँखें आप से आप नीचे हो गयीं, परन्तु स्त्रीत्व की मर्यादा बनाये रखने के लिए मेरा ललाट अब भी ऊँचा बना रहा। उनकी लजीली आँखों में थी यौवन-सुलभ कौतुक-भाव से मिश्रित गाम्भीर्य-मुद्रा। उपस्थित ऋषि-मण्डली के सामने पूज्यपाद पितृदेव ने अग्नि को साक्षी देकर मेरा तथा उनका पाणिग्रहण करा दिया। मुझे बिल्कुल याद है कि अग्नि की प्रदक्षिणा करते समय उतावली के कारण उनका उत्तरीय वस्त्र किञ्चित् स्खलित हुआ था तथा मेरे 'ओपश' (केशपाश) में गुँथी हुई जुही की माला शिथिल-बन्धन होकर धरातल-शायिनी हुई थी।

२

मेरे लिए पतिगृह में भी किसी प्रकार का नियन्त्रण न था। पितृगृह के समान मुझे यहाँ भी स्वातन्त्र्य की शान्ति विराजती मिली। वृद्ध सास तथा ससुर की सेवा में मेरे जीवन की धारा कृतार्थता के किनारे का आश्रय लेकर चारु रूप से बहने लगी।

परन्तु गुलाब के फूल में काँटों के समान इस सुखद स्वच्छन्द जीवन के भीतर एक वस्तु मेरे हृदय में कसकने लगी। वह थी मेरे शरीर पर श्वित्र के छीटों की ज्वलन्त सत्ता! प्रिय कृशाश्व मुझे नितान्त कोमल भाव से प्रेम करते थे, परन्तु धीरे-धीरे इन श्वित्र के सफेद चिह्नों ने उनके हृदय में मेरे प्रति काला धब्बा पैदा करने का काम किया। अब वे नितान्त उदासीनता की मूर्ति बने वैराग्य में मग्न दीख पड़ते। आश्रम की सजीवता नष्ट हो चली, निर्जीवता का काला परदा सर्वत्र पड़ा रहता, बाहर आश्रम के वृक्षों पर और भीतर कृशाश्व के हृदय पर। मैंने बहुत दिनों तक इस उपेक्षा भाव को विष की घूँट की भाँति पी लिया, परन्तु सहनशीलता की भी एक सीमा होती है। जब यह तिरस्कार उस सूक्ष्म रेखा को पार कर गया जो मित्रता तथा उदासीनता के भावों को अलग किया करती है तब मुझसे न रहा गया। मेरे भीतर जीवन्त स्त्रीत्व की मर्यादा इस व्यापार के कारण क्षुब्ध हो उठी। अपाला के अन्तस्तल में छिपा भारतीय-ललना का नारीत्व अपना गौरव तथा महत्त्व प्रकट करने के लिए पैर से कुचली गयी फूत्कार करनेवाली नागिन के समान अपने दुर्धर्ष रूप को दिखलाने के लिए व्यग्र हो उठा। इस उग्र रूप को देख एक बार कृशाश्व त्रास से काँप उठे।

× × ×

'भगवन्, आपके इस उपेक्षाभाव को कब तक मैं अपनी छाती पर ढोती फिरूँगी'—मैंने एक दिन आवेश में आकर पूछा?

'मेरा उपेक्षाभाव?'—चौंक कर कृशाश्व ने कहा।

'हाँ, प्रेमकी मस्ती में मैंने अभी तक इस गूढ़ उदासीनता के

भाव को नहीं समझा था ; प्रेम के नेत्रों ने सब वस्तुओं के ऊपर एक मोहक सरसता ही देखी थी, परन्तु शनैः शनैः स्नेह की परिणति होने पर तथा बाह्य आडम्बर के स्वतः न्यून होने पर मुझे आपके चरित्र में उपेक्षा की काली रेखा स्पष्ट दीख रही है। क्या इस परिवर्तन का रहस्य मेरे त्वग्दोष में अन्तर्हित है?'— मैंने पूछा।

स्वीकृति की सूचना देते हुए कृशाश्व ने दुःख भरे शब्दों में कहना आरम्भ किया—'मेरे अन्तस्तल में प्रेम तथा वासना का घोर द्वन्द्व छिड़ा हुआ है। प्रेम कहता है कि अपने जीवन को प्रेमवेदी पर समर्पण करनेवाली ब्रह्मवादिनी अपाला दिव्य नारी है, परन्तु रूप की वासना कहती है कि त्वग्दोष से इसका शरीर इतना लांछित हो गया है कि नेत्रों में रूप से वैराग्य उत्पन्न करने का यह प्रधान साधन बन गया है। उसमें न तो है रूप की माधुरी, न लावण्य की चकाचौंध। दूसरा शरीर है कुरूपता का महान् आगार, सौन्दर्य का विराट् विभ्राट्। अब तक मैं वासना की बात अनसुनी कर प्रेम के कथन को सुनता आया था, परन्तु इस द्वन्द्व युद्ध से मेरा हृदय इतना विदीर्ण हो रहा है कि झीने कपड़े से ढके हुए घाव के समान इस कुरूपता को मैं अधिक देर तक छिपा नहीं सकता।'

कृशाश्व के इन अन्यायपूर्ण वचनों को सुन कर मेरे हृदय में आग-सी लग गयी। शरविद्ध दुर्दान्त सिंहनी के गर्जन के समान मेरे मुख से क्रुद्ध शब्दों का कर्कश प्रवाह आप से आप प्रवाहित होने लगा—

'पुरुष के हाथों स्त्री-जाति की इतनी भर्त्सना! प्रेम की वेदी

पर अपना सर्वस्व अर्पण करनेवाली नारी को इतनी धर्षणा! कामना से कलुषित पुरुष द्वारा इस प्रकार नारी के हृदय-कुसुम का कुचला जाना! अन्याय!! घोर अन्याय!!! हे भगवन्, स्त्री जाति के भावप्रवण, सात्त्विक भाव से वासित, विमल हृदय को पुरुष जाति कब समझेगी? कब आदर करना सीखेगी? नारी जीवन है स्वार्थ-त्याग की पराकाष्ठा का उज्ज्वल उदाहरण! स्त्री का हृदय है कोमल करुणा तथा विशुद्ध मैत्री की पारमिता का भव्य भाण्डार!! चिन्ता तथा विषाद को, दुःख तथा अव-हेलना की विपुल राशि को अपनी छाती पर ढोती हुई स्त्री जाति अपने क्षुद्र स्वार्थ की सिद्धि के लिए कभी अग्रसर नहीं होती। परन्तु पुरुषों की करतूत? हा, किन शब्दों में कही जाय? वे रूप के लोभी, बाह्य आडम्बर के प्रेमी, क्षणभंगुर चकाचौंध के अभिलाषी बनकर स्त्री के कोमल हृदय को ठुकरा देते हैं। आत्म-श्लाघा मैं नहीं करती, परन्तु वेद-वेदाङ्गों का मैंने गाढ़ अध्ययन किया है, गुरु-कृपा से सरस काव्य की माधुरी चखने का मुझे अवसर मिला है। अपाला जैसा उन्नत मस्तिष्क तथा सरस हृदय का मणि-काञ्चन योग नितान्त विरल है। परन्तु भाग्य का उप-हास! केवल एक गुण के न रहने से मेरी ऐसी दुर्दशा हो रही है। चन्द्रमा की विपुल गुणावली के बीच कलङ्क की कालिमा डूब जाती है, परन्तु अपाला की विशाल गुणराशि के बीच श्वित्र के सफेद भी धब्बे नहीं डूब जाते।' इतना कहते कहते मेरे क्रोधरक्त नेत्रों से लाल चिनगारियाँ निकलने लगीं।

प्रतारित नारी के ये क्षोभ भरे शब्द सुन कर कृशाश्व एक बार ही स्तब्ध हो उठे। अपने मूक संकेतों से ही उन्होंने अपने

हृदय के अस्वीकार को प्रकट किया। इस दृश्य से मैं विचलित हो उठी। मैंने इस आश्रम का परित्याग कर दिया। अपने पिता के तपोवन में आने के अतिरिक्त मेरे पास कोई दूसरा उपाय न रहा। सबल पुरुष के सामने अबला ने अपनी पराजय स्वीकार की।

३

अत्रि के आश्रम में आज प्रभात का समय सुहावना नहीं प्रतीत होता। उषा प्राची-क्षितिज पर आयी; उसने प्रतारित रमणी के क्रोध भरे नेत्रों की आभा के समान अपने रश्मिजाल को सर्वत्र बिखेर दिया, परन्तु फिर भी आश्रम की मलिनता दूर न हुई। परित्यक्ता अपाला को देख कर मेरे माता-पिता के विषाद भरे हृदय की सहानुभूति से आश्रम के सजीव तथा निर्जीव सब पदार्थों में एक विचित्र उदासी छायी हुई थी। भगवान् सविता की किरणें झाकने लगीं। परन्तु मानसिक आलस्य के साथ-साथ शारीरिक अलसता तनिक भी दूर न हुई।

परन्तु मेरा अजीब हाल था। मुझमें न तो विषाद की छाया थी और न आलस्य की रेखा। पैर-तले रौंदी गयी साँपिनी जिस प्रकार अपनी फणा दिखलाती है, ठीक उसी प्रकार इस परित्याग के क्षोभ से मैं नारी के सच्चे रूप को दिखलाने में तुल गयी। त्वग्दोष के निवारण के लिए भौतिक उपायों को अकिञ्चित् कर जान कर मैंने आध्यात्मिक उपायों की उपयोगिता की जाँच करने का निश्चय किया।

शारीरिक तथा मानसिक दुर्बलताओं के दूर करने का, कलुषित प्रवृत्तियों के जला डालने का, सब से प्रबल साधन

है तपस्या। तपस्या की आग के आगे कितने ही क्षुद्र मानव-भाव क्षण भर में जल-भुन कर राख बन जाते हैं। तपाये गये काञ्चन की भाँति तपस्या की अनल में तप्त मानव-हृदय खरा निकलता है, द्विगुणित चमक से चमक उठता है। मैंने भी इस उपाय का आश्रय लिया। वृत्रहन्ता मघवा की उपासना में मैंने अपना समय बिताना आरम्भ किया। प्रातःकाल होते ही मैं समिधा से दहकते अग्निकुण्ड में होम करती और अनन्तर इन्द्र की पूजा तथा जप में संलग्न हो जाती। कुशासन पर आसन जमायी हुई मेरी अभ्यर्थना उषा की सुनहली किरणें करतीं। प्रभात का मन्द समीर मेरे शरीर में नवीन उत्साह, नयी शक्ती का संचार करता। मध्याह्न का प्रचण्ड उष्णांशु मेरे पञ्चाग्निसाधन में पञ्चम अग्नि का काम करता। संध्या की लालिमा मेरे ललाट के उन्नत फलक पर लावण्य के साथ ललित केलियों का विस्तार करती। रजनी के अन्धकार की कालिमा मुझे चिरकाल तक कालिमा के तरङ्गित समुद्र में डुबाये रखती। अन्ततः प्राची के ललाट पर तिलक के समान विद्योतमान सुधाकर की किरणें मेरे शरीर पर अमृत-सिञ्चन का काम करतीं। दिन के बाद रातें बीततीं और रातों के बाद दिन निकल जाते। देखते देखते अनेक वर्ष आये और चले गये। परन्तु अभी तक भगवान् वज्रपाणि के साक्षात्कार की अभिलाषा मेरे हृदय से नहीं गयी।

मैं जानती थी कि इन्द्र की प्रसन्नता का सबसे बड़ा साधन है सोमरस का दान। गोदुग्ध से मिश्रित सोमरस के चषकों के पीने से मघवा के मन में जितना प्रमोद का संचार होता है उतना किसी वस्तु से नहीं। आशुगामी अश्वों तथा वेग से बहनेवाले

वातों के समान सोम के घूँट इन्द्र के हृदय को ऊपर उछाल देते हैं। सोमपान की मस्ती में वज्रपाणि प्रबलतम दानवों का संहार कर अपने भक्तों का कल्याण साधन करते हैं। परन्तु सोम कहाँ मिले ? वह तो मूजवान् पर्वत पर उगने वाली ओषधि इधर दुष्प्राप्य-सी है। विचार आया देखूँ, शायद दैवानुग्रह से कहीं इधर ही प्राप्य हो जाय। मैंने सन्ध्या के समय अपनी कलशी उठायी और जल भरने के लिए सरोवर को प्रस्थान किया। जल भर कर ज्यों ही मैं लौटी मेरी दृष्टि रास्ते में उगी लता-विशेष पर पड़ी। ऊपर गगन-मण्डल में भगवान् सोम अपनी सोलहों कलाओं से चमक रहे थे। सोम के प्रकाश में मुझे सोम को पहचानते विलम्ब न लगा। झट मैंने उस लता को तोड़ लिया और उसके स्वाद की माधुरी चखने के लिए मैंने उसे अपने दाँतों से चर्वण करना शुरू किया। दन्तघर्षण का घोष सुनकर इन्द्र स्वयं उपस्थित हो गये। उन्होंने समझा कि अभिषव कार्य (चुवाने) में लगनेवाले शिलाखण्डों का यह शब्द है। मैंने देखते ही अपने उपास्य देव को पहचान लिया।

इन्द्र ने मुझ से पूछा—'तुमने तो सोमरस देने की प्रतिज्ञा की थी ?'

'हाँ, परन्तु मिठास बिना जाने मैं सोम का पान कैसे कराती ? इसलिए मैं स्वयं उसका स्वाद ले रही हूँ।'

'तथास्तु'—इन्द्र जाने लगे।

'भगवन्, आप भक्तों के घर आवाहन किये जाने पर स्वयं पहुँच जाते हैं। आइये, मैं आपका स्वागत यहीं करूँ।' अपने दांतों से घर्षित सोम की बूँदों को लक्ष्य कर मैंने उनसे कहा—

'आप धीरे-धीरे प्रवाहित होइए जिससे भगवान् इन्द्र के पीने में किसी प्रकार का क्लेश न हो।'

मघवा ने सोमरस का पान किया। भगवान् ने प्रसाद ग्रहण किया। भक्त की कामना—वल्ली लहलहा उठी।

'वर माँगो'—इन्द्र की प्रसन्नता वैखरी के रूप में प्रकट हुई।

'भगवान्, मेरे वृद्ध पिता के खल्वाट शिर पर बाल उग जायँ।'

'तथास्तु। दूसरा वर?'

'मेरे पिता के ऊसर खेत फल-सम्पन्न हो जायँ!'

'एवमस्तु। तीसरा वर?'

'देवादिदेव, यदि आपका इतना प्रसाद है तो इस दासी अपाला का त्वग्दोष आमूल विनष्ट हो जाय।'

'बहुत ठीक। मेरी उपासिका का मनोरथ-तरु अवश्य पुष्पित तथा फलसमन्वित होगा।' इतना कहकर इन्द्र ने मुझे अपने हाथों से पकड़ लिया और अपने रथ के छेद से तथा युग के छेद से तीन बार मेरे शरीर को खींच कर बाहर निकाला। मेरे पहले चाम से उत्पन्न हुए शल्यक (साही), दूसरे से गोधा (गोह) और तीसरे से कृकलास (गिरगिट)। इस प्रकार मेरे शरीर के तीन आवरण छँट कर निकल गये। त्वग्दोष जड़मूल से जाता रहा। इन्द्र की कृपा से मेरा शरीर सूर्य के समान चमकने लगा। मेरे ऊपर दृष्टि डालने वाले व्यक्ति के नेत्रों में चकाचौंध छा गया। जो देखता आश्चर्य करता। सबला नारी के तपोबल को देखकर संसार अकस्मात् स्तब्ध हो गया।

४

आज मेरे नवीन जीवन का मंगल-मय प्रभात था। उषा की पीली किरणों ने आश्रम के प्राङ्गण में पीली चादर बिछा कर मेरा स्वागत किया। मेरे प्रियतम कृशाश्व मेरी इस काञ्चन-काया को देख कर कुछ हतप्रतिभ से हो उठे। उन्हें स्वप्न में भी ध्यान न था कि मेरे शरीर में इस प्रकार परिवर्तन संघटित होगा। नारी की शक्ति का अवलोकन कर उनका हृदय आनन्द से गद्गद हो उठा। मुझे आलिङ्गन करते समय उनके नेत्रों से गोल-गोल आँसुओं की बूँदें मेरे कपोलों पर गिर पड़ीं। उनके करुणापूर्ण कोमल हृदय को देख कर मैं चमत्कृत हो उठी और अपने नारी जीवन को सफल मान कर मेरा शरीर हर्ष से रोमाञ्चित हो गया।
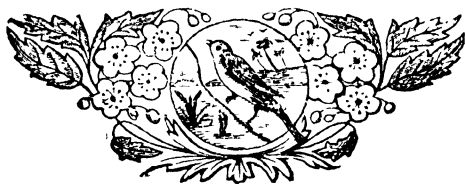
प्रत्याख्यान

१

प्रकृतिनटी ने पटपरिवर्तन किया। वर्षा के दुर्दिन के बाद शरद् का सुहावना समय आ पहुँचा। संसार की आँखों को चकाचौंध करनेवाली बिजुली का नील वलाहकों के झुण्ड के बीच कौंधना कम हुआ। कानों को बधिर बनानेवाले मेघगर्जन का कर्कश शब्द अब शान्त हो गया। सर्वत्र रमणीयता ने अपना साम्राज्य स्थापित किया। वर्षाकालीन नदियों ने उद्धतपना को छोड़ कर सौम्यभाव का आश्रय लिया। जल निर्मल हो गया। नदियों तथा तालाबों में विकसित कमल अपनी मस्ती में झूमने लगे। मकरन्द के लोभी मधुकर परागपूरित पुण्डरीकों के चारों ओर घूमने लगे और अपने मधुर गुञ्जन के बहाने शरद् की गुणावली गाने लगे। आकाश में मेघमण्डल के घने आवरण को फाड़कर दिनकर ने दर्शन दिया और अपनी चमकीली किरणों के द्वारा जगतीतल पर प्रभा का विस्तार किया। शारदीय उत्साह ने वर्षाकालीन जाड्य को बलात् दूर भगा दिया। प्रकृति उत्साह से खिल उठी ; प्राणियों का हृदय उत्साह से उछलने लगा। सर्वत्र एक विचित्र प्रकार की स्फूर्ति दिखलाई पड़ने लगी। इक्ष्वाकु नरेश राजा त्रैवृष्ण त्र्यरुण ने भी दिग्विजय करने का उपक्रम किया।

× × ×

राजा त्रैवृष्ण त्र्यरुण इक्ष्वाकुवंश के एक महाप्रभावशाली मानो महीपति हैं। विद्वत्ता तथा पराक्रमशालिता ने राजा का अपूर्व आधार पाकर अपना पुराना वैमनस्य भुला दिया है। शस्त्र तथा शास्त्र उभय विद्याओं में उन्होंने समभाव से निपुणता प्राप्त की है। ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों के द्रष्टा होने का गौरव जिस प्रकार उन्हें प्राप्त है उसी प्रकार अपनी शस्त्रचातुरी के कारण शत्रुओं को मार भगाने का भी श्रेय उन्हें उपलब्ध है। इनके राज्यकाल में सर्वत्र सुख शान्ति विराजती है। इनकी चातुर्वर्ण्य प्रजाओं में निकृष्ट श्रेणी का भी प्राणी कभी उन्मार्ग में पैर रखने की बात नहीं सोचता। आश्रमों में ऋषिजन अपनी साधना में बिना किसी विघ्न के संलग्न हैं। आश्रम वेदाध्यायी बटुकों के मन्त्रपाठ से गूँज रहा है। प्रातःकाल होम-कुण्ड में जलनेवाले भगवान् वैश्वानर राजा तथा प्रजा के दुरितव्रात का विध्वंस कर जगतीतल का मंगल साधन करते हैं। ऋत्विज्जनों के कोमल कण्ठों से निकले हुए साम-गायनों को सुनकर वृत्रहन्ता मघवा प्रचुर वृष्टि से महीतल को आप्यायित करते हैं। जान पड़ता है कि राजा तथा देवराज दोनों प्राणियों के कल्याण साधन में एक मन से जुटे हुए हैं। वर्षाकालमें भगवान् वृत्रघ्न ने अपने धनुष को प्राणियों के हितार्थ धारण किया था; वर्षा के समाप्त होते ही देवराज ने अपने धनुष की प्रत्यञ्चा ढीली की, और इक्ष्वाकुराज ने अपने धनुष को बाणों से सुसज्जित किया और दिग्विजय करने का उचित अवसर जान कर नाना प्रकार की तैयारियाँ करना आरम्भ किया।

राजा त्रैवृष्ण के पुरोहित महर्षि वृश अपनी विद्या के लिए

नितान्त प्रख्यात हैं। ये 'जन' नामक महर्षि के पुत्र हैं। इसी कारण 'वृश जान' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके मुखमण्डल से देवताओं के नयन को भी चकित करने वाली प्रभा फूट रही है जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनमें सौम्यभाव के साथ साथ उग्र भाव का भी अभूतपूर्व मञ्जुल सामञ्जस्य है। ये सामगायन में जितने कुशल हैं उतने ही आथर्वण मन्त्र-प्रयोगों में निष्णात हैं। निर्भीकता उनमें इतनी अधिक है कि राजा त्रैवृष्ण के लाख मना करने पर भी युद्ध स्थल में राजा के साथ देने से कभी पराङ्मुख नहीं होते। वृद्ध होने पर भी उनका शरीर यौवन-सुलभ स्फूर्ति का आगार है, अगम्य उत्साह का अद्भुत निकेतन है, प्रखर पराक्रम का अपूर्व भाण्डार है। ऐसे कर्मठ तथा पौरोहित्यकर्मधुरीण पुरोहित को पाकर राजा त्र्यरुण अपने को कृतकृत्य मानता है, क्योंकि विशाल साम्राज्य के प्रजावर्गों का जितना कल्याण राजा को प्रत्यञ्चामण्डित धन्वा कर रही है उससे कहीं अधिक कल्याण महर्षि वृश के आथर्वणमन्त्रों के द्वारा विहित प्रयोगों ने सिद्ध कर दिया है। प्रतापी पृथ्वीपाल तथा प्रभावशाली पुरोहित के परस्पर सहयोग से पृथ्वी समृद्ध-शालिनी बन गई है, प्रजाजन सुख की नींद सो रहे हैं; अत्याचार का अत्यन्त अभाव हो गया है। सप्तसिन्धव प्रदेश भूतल का अभिराम स्वर्ग बन गया है।

'महर्षे, इस बार आप मेरा आग्रह टाल नहीं सकते; इसे तो आप को मानना ही पड़ेगा', राजा त्रैवृष्ण ने बड़ी विनम्रता के साथ महर्षि वृश से कहा।

'लेकिन यह कौन सा आग्रह है जिसके ऊपर आपका इतना

अभिनिवेश दीख पड़ता है । जहाँ तक मुझे स्मरण है मैं कभी अपने उदाराशय यजमान की प्रार्थना के अस्वीकार करने का अपराधी नहीं हूँ'—वृश ने स्नेहसूचक शब्दों में कहा । 'इस युद्ध-यात्रा के अवसर पर मेरे रथ का सारथ्य-ग्रहण । आपने अपनी अनुकम्पा से मुझे सदा कृतार्थ किया है, रणक्षेत्र में स्वयं उपस्थित होकर आपने मेरे तथा इक्ष्वाकुओं की युयुत्सा को खूब बढ़ाया है; आपकी प्रार्थनाओं ने भगवान् वृत्रघ्न के मन को हमारी ओर आकृष्ट कर शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने में पर्याप्त सहायता दी है । परन्तु इस बार आप को स्वयं मेरे समर-लिप्सु अश्वों का सञ्चालन करना पड़ेगा, मेरी हार्दिक इच्छा है कि मेरी रणयात्रा आपके सारथित्व में सम्पन्न हो'—राजा ने गद्गद स्वरों में अपनी प्रार्थना ऋषि से कह सुनाई ।

'तथास्तु' वृश ने आनन्दित होकर अपनी स्वीकृति दी और राजा की कर्तव्यपरायणता से मुग्ध होकर वह गाम्भीर्यसूचक मुद्रा में लगे कहने—'राजन्, तुमने पुरोहित का मूल्य खूब समझा है । पुरोहित राष्ट्र की प्रतिष्ठा है । वायु की सहायता से हीन अग्नि की भाँति पुरोहित-रहित राजा का तेज कभी उद्दीप्त नहीं होता । पुरोहित पञ्चमेनि-सम्पन्न वैश्वानर अग्नि हैं । पुरोहित वह अग्नि है जिसके पाँच विभिन्न अवयवों में पाँच ज्वालाओं का निवास रहता है । राजा का यह परम कर्तव्य है कि वह आचरणों से इन ज्वालाओं के शान्त करने का सतत उद्योग किया करे । आगमन के शुभ अवसर पर राजा जिन स्वागत वचनों का उच्चारण करता है उनसे पुरोहित की वाच्-स्थित मेनि (ज्वाला) की शान्ति होती है; पाद्य के लिए जल लाने से

पादस्थित ज्वाला का, शरीर को नाना वस्त्रों तथा अलंकरणों से विभूषित करने से त्वङ्निहित ज्वाला का, नितान्त तर्पण करने से हृदय स्थित ज्वाला का तथा गृह में पूर्ण स्वातन्त्र्य प्रदान करने से उपस्थस्थित ज्वाला का प्रशमन किया जाता है। इन अनुष्ठानों के अभाव में यह अग्नि राष्ट्र का विध्वंस करके ही शान्त होगी। परन्तु स्वागत-समुदाचार से इसको पर्याप्त शान्ति का विधान किया जा सकता है। पुरोहित के 'राष्ट्र-गोपः' कहलाने के तात्पर्य को तुमने अच्छी तरह समझा है। अनभिप्रीत पुरोहित राजा को स्वर्ग से, क्षत्र से, बल से, राष्ट्र से तथा विशों (प्रजा) से च्युत करा सकता है, परन्तु प्रसन्न होने पर वह राजा को इन वस्तुओं से सम्पन्न करा सकता है। राजा अपने सामर्थ्य से शत्रुओं के सामर्थ्य को दबा लेता है, बल से बल को प्राप्त करता है, राष्ट्र समृद्धिशाली बनता है तथा प्रजा एक मन होकर राजा के वश में आ जाती है।'

क्षत्रेण क्षत्रं जयति बलेन बलमश्नुते।
यस्यैवं विद्वान् ब्राह्मणो राष्ट्रगोपः पुरोहितः।
तस्मै विशः संजानते संमुखा एकमनसः
यस्यैवं विद्वान् ब्राह्मणो राष्ट्रगोपः पुरोहितः॥

(ऐत० ब्रा० ४० अ०)

'महर्षे, साधारण जनता विपत्ति के समय मेरे अधिज्य धनुष् पर विजय की आशा किये रहती है, परन्तु उसे पता ही क्या है कि हमारी समस्त आशायें आप की उचित मन्त्रणाओं पर केन्द्रीभूत रहती हैं। आपके इस प्रसाद को मैं अत्यन्त महत्त्व

का मानता हूँ। आपका यह प्रसाद-कल्पतरु मेरी समग्र काम-नाओं के फलने में समर्थ होगा।

पुरोहित ने सारथ्यग्रहण करने की स्वीकृति दी। यजमान के हृदय में हर्ष का समुद्र उमड़ आया।

२

महाराज त्रैवृष्ण के विजय प्रस्थान का शुभ मुहूर्त है। आज इक्ष्वाकु नगरी में सर्वत्र अत्यधिक उत्साह फैला हुआ है। प्रजाओं के मुखमण्डल पर आनन्द और उत्साह की रेखाएँ मिल कर एक अपूर्व रस का सञ्चार कर रही हैं। स्त्रियाँ अटारियों पर प्रमोद की मङ्गलमयी मूर्तियाँ बनी बैठी हैं। बालक वृन्द राजमार्गों पर अपने बालसुलभ कौतुक से किलकारियाँ भर रहे हैं; वृद्धजन प्राचीन इक्ष्वाकु नरपति की विजय यात्रा की मनोरञ्जक कहानी सुनाकर अतीत को वर्तमान से जोड़ने का उद्योग कर रहे हैं। सप्तसिन्धव के प्रतापशाली सम्राट् ऐक्ष्वाक त्रैवृष्ण त्र्यरुण की शोभा देखने ही योग्य है। उनके शीर्ष पर शिप्रा (लोहे का बना हुआ शिरस्त्राण) विराजमान है तथा द्रापि (कवच) ने उनके शरीर को शत्रुबाणों के लिए सर्वथा अभेद्य बना डाला है। बायें हाथ में धनुष सुशोभित है, और दाहिने हाथ में सृक (भाला)। बाणों से भरा हुआ निषङ्ग उनकी पीठ पर लटक रहा है। पैर में वाराह के चाम का बना हुआ मजबूत जूता पड़ा हुआ है। जिस किसी व्यक्ति की दृष्टि ऐसे रण-बाँकुरे वीर पर एक क्षण के लिए भी पड़ जाती, उसके नेत्रों के सामने बिजुली चमक उठती। राजा के लिए एक बहुमूल्य रथ तैयार किया गया है जिसमें दो बड़े फुर्तीले, तेज तथा मजबूत घोड़े जोते गये हैं। भाला और तलवार से

सुसज्जित अनेक वीर इस रथ के रक्षाकार्य में नियुक्त किये गये हैं तथा रथ के ऊपर लड़ाई के विशेष शस्त्रास्त्र तैयार रखे गये हैं। राजा के साथ चतुरङ्गिणी सेना सन्नद्ध होकर प्रस्थान की प्रतीक्षा कर रही है। रणदुन्दुभि का गम्भीर घोष दुर्बलों के हृदय में भय का, परन्तु सबलों के हृदय में उत्साह का, संचार कर रहा है। रथ के अग्र भाग को महर्षि वृश की मूर्ति सुशोभित कर रही है। कवच तथा शिप्रा से सुसज्जित उन्हें देख-कर कौन कह सकता है कि कभी इस शरीर में वल्कल वस्त्र भी विराजता होगा। स्फूर्ति तथा उत्साह, पराक्रम तथा तेजस्विता के साक्षात् अवतारभूत वृश का कलेवर दर्शकों के सामने एक अदृष्ट-पूर्व दृश्य उपस्थित कर रहा है। जो कोई उन्हें देखता वही आश्चर्य से चकित हो जाता। कहाँ उनका वल्कलाच्छादित सौम्यभावा-भिराम मञ्जुल कलेवर और कहाँ आज का द्रापिमण्डित, शिप्रा-विभूषित रणभयङ्कर शरीर! महर्षि वृश ने रथ के ऊपर सारथि का आसन ग्रहण किया। सम्राट् त्र्यरुण रथी के स्थान पर आरूढ हुए। महर्षि ने घोड़ों के लगाम पकड़ कर उन्हें हाँकना आरम्भ किया। रणदुन्दुभि बज उठी। अभियान का आरम्भ हो गया। लोगों ने साश्चर्य नयनों से देखा कि ब्राह्म तेज क्षात्र बल के साहचर्य में संसार के कल्याण साधन के लिए स्वयं अग्रसर होकर निकला है।

सर्वत्र विजयलक्ष्मी सम्राट् की दासी बनी। प्रत्येक संग्राम में राजा ने अपने शत्रुओं का दर्पदलन किया। धर्मविजयी त्रैवृष्ण ने अपने शत्रुराजाओं को परास्त कर उन्हें फिर से राज्य-सिंहासन पर बैठा दिया। उसने उनके दर्प का दलन किया,

शक्ति का नहीं। अभिमान का हरण किया, सम्पत्ति का नहीं। विजयमदिरा से मतवाला राजा चारों दिशाओं की विजययात्रा समाप्त कर अपनी राजधानी की ओर लौटा। आगे आगे विजयी इक्ष्वाकुओं की विशाल सेना। रणदुन्दुभि का गम्भीर निनाद। रथों का घर्घर शब्द। एक ही रथ पर आसीन राजा त्र्यरुण तथा उनके सारथि महर्षि वृश। इस दृश्य को देखने के लिये इक्ष्वाकु मण्डल के नरनारी अपने आवश्यक कार्यों को छोड़कर सड़क पर आ निकले। जनसंघर्ष इतना अधिक था कि तिल रखने की भी जगह न थी। भीड़ इतनी ज्यादा थी कि कोई किसी का तनिक भी ख़याल न करता। लोग एक दूसरे पर टूटे पड़ते थे। ऐसे जनकोलाहल के अवसर पर एक दुर्घटना ने लोगों के आनन्दमग्न हृदय पर दुःख की बाढ़ लाकर उपस्थित की। लाख सावधानता रखने पर भी एक कौतुकाक्रान्त चञ्चल बालक राजा के रथ के नीचे आ ही गया। विपुल प्रयत्न करने पर भी उस निरीह बालक की प्राणरक्षा न हो सकी। कुतूहल की वेदी पर बालक ने अपने प्रिय प्राणों का हवन किया। ब्राह्मण बालक की अकारण हत्या से दर्शक मण्डली क्षुब्ध हो उठी। 'अब्रह्मण्यं' की तुमुल ध्वनि आकाश को चीरने लगी। रंग में भंग हो गया।

इस अघटित घटना ने राजा तथा पुरोहित दोनों के हृदय में विषाद उत्पन्न कर दिया। दैव की प्रबलता पर दोनों खीझ उठे। पुरुषार्थ तथा भाग्य के बीच तुमुल युद्ध छिड़ गया। पुरुषार्थ कहता कि मेरी ही कमी से इस ब्राह्मणशिशु की हत्या हुई; यदि मेरा प्रयत्न पूरा रहता, तो इसे बचाने में सर्वथा समर्थ होता। दैव ने कहा कि इसमें तुम्हारी शक्ति बिल्कुल नहीं, यह

तो मेरी सामान्य क्रीड़ा है। लाखों उद्योग भाग्य के विधान को टाल नहीं सकते। राजा तथा पुरोहित दोनों ने इस शास्त्रार्थ को सुना और दैव की महती शक्ति के सामने सिर झुकाया।

३

अपराध का निर्णय करना एक विषम पहेली है। इसे वही मनुष्य सुलझा सकता है जिसका हृदय रागद्वेष के द्वन्द्वों से क्षुब्ध न होकर समत्व में अवस्थित हो। धर्मबुद्धि की जागरूकता से ही सच्चा निर्णय किया जा सकता है। पक्षपात की आँच इतनी तेज होती है कि जिसे वह न लगे वह मनुष्य विरला ही होता है। पक्ष तथा विपक्ष उभय कोटि के प्रमाण यदि तुल्यबल हुए, तो निर्णय पर पहुँचना एक दुःसाध्य व्यापार बन जाता है। इक्ष्वाकु लोगों की भी दशा आज ऐसी ही चिन्ताजनक है। ब्राह्मण बालक की हत्या के दोष का भागी कौन है? इसी विकट समस्या का हल करना है। वादी स्वयं उन्हीं के प्रजावत्सल भूपाल सम्राट् त्रैवृष्ण है और प्रतिवादी उन्हीं के ब्रह्मवर्चस्वी पुरोधा महर्षि वृश हैं।

अपने पक्ष की पुष्टि में राजा ने कहना आरम्भ किया—महर्षे, इस रथ के वेग के नियन्ता आप ही थे। आप के ही हाथों में मेरे इस संग्रामीय रथ के घोड़ों की लगाम थी। आप अपने इच्छानुसार इसका संचालन करते आते थे। रथ का वेग धीमा करना या उसे तेज करना आपके अधिकार की बात थी। अतः सावधानतापूर्वक व्यवहार करने से आप इस ब्राह्मण बालक को बचा सकते थे। यह प्रमाद आपकी ओर है। आप ही दोष के भाजन हैं। मैं तो आपके हाथ में एक कठपुतली मात्र था।

जिधर घुमावें, उधर घूमता था, जहाँ खड़ा करावें खड़ा होता था। ऐसी दशा में मैं दोषी कैसे हो सकता हूँ ?

महर्षि वृश ने राजा के तर्कों को सुना और उनकी अयथार्थता दिखलाते हुये बोले—राजन्, आप यहाँ विवेक से च्युत हो रहे हैं। रथ के स्वामी आप हैं, मैं तो केवल आपकी आज्ञा का अनुसरण मात्र करने वाला हूँ। आप रथी हैं, मैं हूँ सारथि। मेरे हाथ में बागडोर जरूर है, परन्तु फल के अधिकारी आप ही हैं। इस विजय यात्रा में शुभ फलों के समान अशुभ फलों के भोक्ता आप ही हैं। मैं तो तटस्थ हूँ, अपने कार्य का निःस्पृह भाव से निर्वाह करता हूँ। फल के भागी आप ही हैं। न तो मैं विजयलक्ष्मी की प्राप्ति का अधिकारी हूँ, न ब्रह्महत्या-जन्य पातक का। आपके ही मस्तक पर विजयलक्ष्मी का तिलक है; वहीं पर ब्रह्महत्या की कालिमा भी स्थान पावेगी। तटस्थ व्यक्ति का कोई भी अपराध नहीं होता।

इक्ष्वाकुओं ने उभय पक्ष की बातें सुनीं। अपनी विवेचन बुद्धि के बल पर दोनों का तारतम्य विचार करना आरम्भ किया। स्वार्थ तथा परार्थ के बीच उनके हृदय में भयङ्कर द्वन्द्व मचने लगा। परार्थ बुद्धि कहती—वृश का कहना बिल्कुल उचित है। सारथि सेवक मात्र है, स्वामी नहीं। सञ्चालक है, फलभागी नहीं। स्वार्थ बुद्धि कहती—महाराज त्रैवृष्ण हमारे माननीय, आराध्य महीपाल हैं। इनके ऊपर दोषारोपण करना क्या न्यायप्राप्त है ? इक्ष्वाकुओं ने इस द्वन्द्व का अवश्य अनुभव किया। स्वार्थबुद्धि की मीठी बातें उन्हें अच्छी लगीं। मुक्तकण्ठ से उन्होंने स्वामी राजा को निर्दोष और सेवक पुरोहित को दोषी

ठहराया। महर्षि वृश ने भी जनसमुदाय के इस निर्णय के सामने सिर झुकाया और निरपराधी होने पर भी उस क्षण के लिए अपने को अपराधी माना। उन्होंने अनेक आथर्वणिक अभिचारों का प्रयोग किया तथा 'वार्श साम' का मञ्जुल गायन किया। मन्त्र के बल पर वह ब्राह्मण बालक पुनरुज्जीवित हो गया। ब्राह्म तेज के प्रत्यक्ष दृष्टान्त को इक्ष्वाकुओं ने विस्मित नेत्रों से निरखा। महर्षि इस वितथ दोषारोपण से मर्माहत हो उठे। उन्होंने इक्ष्वाकु-जनपद का परित्याग कर दिया। ब्राह्मण के अपमान से प्रकृति क्षुब्ध हो उठी। भगवान् भास्कर का मुखमण्डल क्रोध के मारे लाल हो गया। सान्ध्य तमोमण्डल के आवरण के भीतर उन्होंने अपने को छिपा लिया। रात्रि के निबिड़ अन्धकार ने इक्ष्वाकु-जनपद को कालिमा के समुद्र में डुबा दिया।

४

'ऊँह, अभी तक भोजन तैयार नहीं हुआ'—झिझक के साथ पति ने कहा। 'सूरज के डूबने का समय आ पहुँचा, मैं अपने कारु कार्य को समाप्त कर घर आ पहुँचा, परन्तु भोजन के पहुँचने का समय अभी तक नहीं आया।'

'इसमें मेरा रंचकमात्र भी दोष नहीं है'—पत्नी ने गिड़-गिड़ाने के शब्द में कहा।

'तो दोष है किसका? क्या हमारे घर में धान्य का अभाव है।'

'नहीं।'

'तो क्या द्विदल (दाल) और लवण की कमी है?'

'जी, नहीं।'

'तब तो भोजन के सिद्ध न होने का कारण तुम्हारे अलस स्वभाव में ही छिपा है।'

'प्रियतम, यह भी ठीक कारण नहीं है। मैं दिन भर गाय के करीष (गोबर) को इकट्ठा कर आग जलाने का उद्योग करती रही, परन्तु निर्धन के मनोरथ की तरह मेरी आशा पर सदा पानी फिरता रहा। आग के जलने पर भी उसका तेज न जाने कहाँ अन्तर्हित हो गया।

'हैं ! यह क्या कह रही है, पगली कहीं की। इस अश्रुतपूर्व घटना की बात किसी दूसरे के सामने कभी न कहना। व्यर्थ की तुम्हारी हँसी से लोगों का पेट फूल आवेगा।'

'पतिदेव, मैं आप से सच कहती हूँ। अग्निदेव की उस प्रभा-भासुर मूर्ति के लिए हमारे नेत्र बेचैन हो गए, परन्तु कहीं वह दिखाई नहीं पड़ी। अग्नि की वह तेजस्विता अन्तर्हित हो गई है। भोजन के निष्पन्न न होने का यही मुख्य हेतु है।

आज इक्ष्वाकु-मण्डल के प्रजावर्ग की दशा बड़ी दयनीय थी ! कारु-दम्पती का यह वार्तालाप सर्वथा अवितथ था। लोगों ने हजारों उद्योग किये परन्तु अग्निनारायण के शरीर से ज्वाला का आविर्भाव न हो सका। गृहस्थों के घरों में उदराग्नि की शान्ति के लिए न तो भोजन निष्पन्न होता था और न यज्ञों में देवताओं के निमित्त हविष्य। आग में घृत की आहुति डालने पर वह परिपक्व नहीं होती थी। राज्यभर में प्रचण्ड कोलाहल मच गया। प्रजा राजा के विरोध में खड़ी होने लगी। 'राजा कालस्य कारणम्'। राजा के अपराधों से ही प्रजा के दुःख द्वन्द्वों

की वृद्धि होती है। अखिल प्रजावर्ग के मुख पर एक ही विषय की चर्चा थी—निर्दोष पुरोहित का अकारण प्रत्याख्यान। ब्राह्मण बालक की हत्या में राजा का ही समग्र दोष था। बेचारे सारथि का दोष ही क्या? राजा के अपराध को हम लोग भले पचा जाँय, परन्तु वैश्वानर इसके लिए राजा को क्यों क्षमा करने लगे? 'अब्रह्मण्यं' के गगनभेदी निनाद से पृथ्वी काँप उठी।

प्रजावत्सल त्रैवृष्ण प्रजा की असमय आपदा से स्वयं विचलित हो उठा। उसने मन्त्रियों से मन्त्रणा की। उन्होंने वैश्वानररूप पुरोहित का प्रत्याख्यान ही इस आकालिक वज्राघात का प्रमुख कारण बतलाया। राजा ने मन्त्रियों के सामने अपना सिर झुका दिया। शक्ति ने न्याय के सामने पराजय स्वीकार किया। राजा ने चारों ओर महर्षि वृश के अन्वेषण के लिए अपने आदमियों को भेजा। वृश के आने पर राजा ने उनके चरणों पर अपना मस्तक रख दिया और इस असामयिक आपत्ति से बचाने के लिए बड़ी विनति की। प्रजा के असह्य क्लेश तथा राजा के विनीत सौम्यभाव को देख कर महर्षि वृश का कोप दया के रूप में परिणत हो गया। अपने अपमान को भुला कर पुरोहित अपने यजमान के ऊपर आने वाली महती विपत्ति के दूर करने के उपाय सोचने में लग गए। अग्नि के अकस्मात् अन्तर्धान होने का क्या कारण है? अपनी सूक्ष्म दृष्टि से विचार कर महर्षि ने देखा कि राजा की पत्नियों में से एक स्वयं पिशाचिनी थी जिसने पुरोहित की अनुपस्थिति से लाभ उठा कर अग्नि के तेज को अपनी सेज के नीचे छिपा दिया

रखा था। पुरोहित राजा के साथ अन्तःपुर में स्वयं गए और कुमाररूपी अग्नि-तेज को सम्बोधन कर स्तुति करने लगे:—

हे अग्निदेव, आप बृहत् ज्योति के साथ दीप्त होते हैं। अपने महत्त्व के कारण संसार के समग्र पदार्थों को प्रकट करते हैं। आप असुरों की दुःख से प्राप्त होने वाली अकल्याणकारिणी मायाओं का अभिभव कर दूर भगा देते हैं और राक्षसों के नाश के लिए अपने शृङ्ग के समान ऊपर उठने वाली ज्वालाओं को तीक्ष्ण बनाते हैं*।

अनेक ज्वालाओं से युक्त, कामनाओं को पूरा करने वाले, निरन्तर बढ़ने वाले अग्निदेव शत्रु से कण्टकरहित धन को प्राप्त कर लेते हैं। स्वयं अन्य देवता लोग अग्नि की यह स्तुति किया करते हैं। भगवान् वैश्वानर कुश को इकट्ठा कर तथा हविष् को सिद्ध कर यज्ञ करने वाले मानवमात्र को शर्म—कल्याण—दें†।

महर्षि वृश के मुख से इन ऋक्मन्त्रों के प्रादुर्भाव के साथ ही साथ अग्निदेव की ज्वाला धधकने लगी। पिशाची क्षणमात्र में भस्मसात् बन भूमि पर लोटने लगी। इक्ष्वाकु-जनपद भर में

---

* विज्योतिषा बृहता भात्यग्नि-
राविर्विश्वानि कृणुते महित्वा।
प्रा देवीर्मायाः सहते दुरेवाः
शिशीते शृङ्गे रक्षसे विनिक्षे॥ (ऋ० ५।२।९)

† तुविग्रीवो वृषभो वावृधानोऽशत्र्वर्यः समजाति वेदः।
इतीममग्निममृता अवोचन् बर्हिष्मते मनवे शर्म यंसत्॥
हविष्मते मनवे शर्म यंसत्। ऋ० ५।२।१२

अग्नि का आविर्भाव सम्पन्न हो गया। घर घर में अग्नि की प्रभा-भासुर मूर्ति धक्धक् कर जल उठी। पाकशाला में पाक निष्पन्न होने लगा। कारुदम्पती के मनोमालिन्य का अवसर सदा के लिए जाता रहा। यज्ञशाला में होम कुण्डों में दी गई घृताहुतियों को अग्निदेव अपनी सप्त जिह्वाओं से ग्रहण करने लगे। रात्रि के निविड़ अन्धकार को दीपक-मालिका ने दूर करना आरम्भ किया। सर्वत्र जगतीतल पर सुखसमृद्धि का साम्राज्य प्रतिष्ठित हुआ। तब लोगों ने इस तथ्य के रहस्य को भली भाँति समझा कि ब्राह्म तेज के पूर्ण सहयोग प्राप्त करने पर ही क्षात्र बल जगत् का कल्याण साधन कर सकता है। आध्यात्मिक शक्ति के अभाव में शारीरिक शक्ति नितान्त अकिञ्चित्कर है।
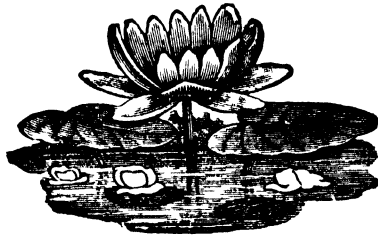
संगति

१

वासना का राज्य अखण्ड है। वासना का विराम नहीं। फल की प्राप्ति होने पर यदि एक वासना को हम निःशेष करने में समर्थ भी होते हैं, तो न जाने कहाँ से दूसरी और उससे भी प्रबल वासनाएँ पनप जाती हैं। प्रबल कारणों से कतिपय वासनाएँ कुछ काल के लिए सुप्त अवश्य हो जाती हैं, परन्तु किसी उत्तेजक कारण के आते ही वे जाग पड़ती हैं। भला, कोई स्वप्न में भी सोच सकता था कि महर्षि सोभरि काण्व का दृढ़ वैराग्य मीन-राज के सुखद गार्हस्थ्यजीवन के दर्शनरूपी वायु के एक हल्के-से झकोरे से ही जड़ से उखड़ कर भूतलशायी बन जायेगा।

महर्षि सोभरि कण्व-वंश के अवतंस थे; उन्होंने वेदवेदाङ्ग का गुरु-मुख से अध्ययन कर धर्म का रहस्य भली भाँति जान लिया था। उनका शास्त्रानुचिन्तन गहरा था, परंतु उससे भी अधिक गहरा उनका जगत् के प्रपञ्चों से वैराग्य था। जगत् के समग्र विषय-सुख क्षणिक हैं। चित्त को उनसे वास्तविक शान्ति नहीं मिल सकती। तब कोई विवेकी पुरुष अपने अनमोल जीवन को इन कौड़ी के तीन विषयों की ओर क्यों लगावेगा? आज का विशाल सुख कल ही अतीत की स्मृति बन जाता है। पल भर में

सुख की सरिता सूखकर मरुभूमि की विशाल बालुकाराशि के रूप में परिणत हो जाती है; तब कौन विज्ञ पुरुष इस सरिता के सहारे अपनी जीवन-वाटिका को हरी-भरी रखने का उद्योग करेगा ? सोभरि का चित्त इन भावनाओं की रगड़ से इतना चिकना बन गया था कि पिता-माता का विवाह-विषयक प्रस्ताव चिकने घड़े पर जल-बूँद के समान उस पर टिक न सका। उन्होंने बहुत समझाया—'अभी भरी जवानी है, अभिलाषाएँ उमड़ी हुई हैं; तुम्हारे जीवन का यह नया वसन्त है, कामना-मञ्जरी के विकसित होने का उपयुक्त समय है, रस-लोलुप चित्त-भ्रमर को इधर-उधर से हटाकर सरस माधवी के रस-पान में लगाना है। अभी वैराग्य का बाना धारण करने का अवसर नहीं'। परन्तु सोभरि ने किसी के शब्दों पर कान न दिया, उनका कान तो वैराग्य से भरे, अध्यात्म-सुख से सने, मञ्जुल गीतों को सुनने में न जाने कब से लगा हुआ था।

पिता-माता का अपने पुत्र को गार्हस्थ्य-जीवन में लाने का उद्योग सफल न हो सका। पुत्र के हृदय में भी देर तक द्वन्द्व मचा रहा। एक बार चित्त कहता—'माता-पिता के वचनों का अनादर करना पुत्र के लिये अत्यन्त अहितकर है'। परन्तु दूसरी बार एक विरोधी वृत्ति धक्का देकर सुझाती—'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।' आत्म-कल्याण ही सब से बड़ी वस्तु ठहरी। गुरुजनों के वचनों और कल्याण-भावना में विरोध होने पर हमें आत्म-कल्याण से पराङ्मुख नहीं होना चाहिये। सोभरि इस अन्तर्युद्ध को अपने हृदय के कोने में बहुत देर तक छिपा न सके और घर से सदा के लिये नाता तोड़ कर

उन्होंने इस युद्ध को भी विराम दिया। महर्षि के असामयिक वैराग्य और आकस्मिक गृहत्याग से मनुष्यों के हृदय विस्मित हो उठे।

२

पवित्र नदीतट था। कल्लोलिनी कालिन्दी कल-कल करती हुई बह रही थी। किनारे पर उगे हुए तमाल-वृक्षों की सघन छाया में रंग-बिरंगी चिड़ियों का चहकना कानों में अमृत उँड़ेल रहा था। घने जंगल के भीतर पशु स्वच्छन्द विचरण करते थे और नाना प्रकार के विघ्नों से अलग रह कर विशेष सुख का अनुभव करते थे। सायंकाल गोधूलि की भव्य वेला में गायें दूध से भरे थनों के भार से किञ्चित् झुकी हुई जब मन्द गति से दूर के गाँवों की ओर जाती थीं, तब यह दृश्य अनुपम आनन्द की सृष्टि करता था। यमुना की सतह पर शीतल पवन के हल्के झकोरों से छोटी-छोटी लहरियाँ उठती थीं और भीतर मछलियों के झुण्ड-के-झुण्ड इधर-से-उधर कूदते हुए स्वच्छन्दता के सुख का अनुभव कर रहे थे। यहाँ था शान्ति का अखण्ड राज्य। इसी एकान्त स्थान को सोभरि ने अपनी तपस्या के लिये पसंद किया।

सोभरि के हृदय में तपस्या के प्रति महान् अनुराग तो था ही, स्थान की पवित्रता तथा एकान्तता ने उनके चित्त को हठात् अपनी ओर खींच लिया। यमुना के जल के भीतर वे तपस्या करने लगे। भादों में भयंकर बाढ़ के कारण यमुना-जल बड़े ही वेग से बढ़ने और बहने लगता; परन्तु ऋषि के चित्त में न तो किसी प्रकार का बढ़ाव था और न किसी प्रकार का बहाव।

पूस-माघ की रातों में पानी इतना अधिक ठंडा हो जाता कि जल-जन्तु भी ठंड के कारण काँपते; परन्तु मुनि के शरीर में जल-शयन करने पर भी किसी प्रकार की जड़ता न आती। वर्षा के साथ-साथ ऐसी ठंडी हवा चलती कि प्राणीमात्र के शरीर सिकुड़ जाते; परन्तु ऋषि के शरीर में तनिक भी सिकुड़न न आती। ऐसी विकट तपस्या का क्रम बहुत वर्षों तक चलता रहा। सोभरि को वह दिन याद था, जब उन्होंने तपस्या के निमित्त अपने पिता का आश्रम छोड़कर यमुना का आश्रय लिया था। उस समय उनकी भरी जवानी थी, परन्तु अब? लंबी दाढ़ी और मुलायम मूछों पर हाथ फेरते समय उन्हें प्रतीत होने लगता कि उनकी उम्र ढलने लगी है। जो उन्हें देखता, आश्चर्य से चकित हो जाता। इतनी विकट तपस्या! शरीर पर इतना अधिकार!! सर्दी-गर्मी सह लेने की इतनी अधिक शक्ति!!! दर्शकों के आश्चर्य का ठिकाना न रहता। परन्तु महर्षि के चित्त की विचित्र दशा थी। वे नित्य यमुना के श्यामल जल में मत्स्यराज की अपनी प्रियतमा के साथ रतिक्रीड़ा देखते-देखते आनन्द से विभोर हो जाते। कभी पति अपनी मानवती प्रेयसी के मान-भञ्जन के लिये हजारों उपाय करते-करते थक जाने पर आत्म-समर्पण के मोहनमन्त्र के सहारे सफल मनोरथ होता और कभी वह मत्स्यसुन्दरी अठिलाती, नाना प्रकार से अपना प्रेम जताती, अपने प्रियतम की गोदी का आश्रय लेकर अपने को कृतकृत्य मानती। झुंड-के-झुंड बच्चे मत्स्य-दम्पती के चारों ओर अपनी ललित लीलाएँ किया करते और उनके हृदय में प्रमोद-सरिता बहाया करते।

ऋषि ने देखा, गार्हस्थ्य-जीवन में बड़ा रस है। पति पत्नी के विविध रसमय प्रेम-कल्लोल ! बाल-बच्चों का स्वाभाविक सरल सुखद हास्य ! परन्तु उनके जीवन में रस कहाँ ? रस का आश्रय लेने पर भी चित्त में रस का नितान्त अभाव था। उनकी जीवन-लता को प्रफुल्लित करने के लिये कभी वसन्त नहीं आया। उनके हृदय की कली को खिलाने के लिये मलयानिल कभी नहीं बहा। भला, यह भी कोई जीवन है। दिन-रात शरीर को सुखाने का उद्योग, चित्त-वृत्तियों को दबाने का विफल प्रयास। उन्हें जान पड़ता मछलियों के छोटे-छोटे बच्चे उनके नीरस जीवन की खिल्ली उड़ा रहे हैं।

संगति ने सुप्त सांसारिक वासना को जोरों से झकझोर कर जगा दिया। वह अपने को प्रकट करने के लिये मार्ग खोजने लगी।

३

तप का उद्देश्य केवल शरीर को नाना प्रकार के साधनों से तप्त करना नहीं है, प्रत्युत मन को तप्त करना है। सच्चा तप मनमें जमे हुए काम के कूड़े करकट को जलाकर राख बना देता है। आग में तपाये हुए सोने की भाँति तपस्या से तपाया गया चित्त खरा उतरता है। तप स्वयं अग्निरूप है। उसकी साधना करने पर क्या कभी चित्त में अज्ञान का अन्धकार अपना घर बना सकता है ? उसकी ज्वाला दुर्वासनाओं को भस्म कर देती है और उसका प्रकाश समग्र पदार्थों को प्रकाशित कर देता है। शरीर को पीड़ा पहुँचाना तपस्या का स्वाँगमात्र है। नहीं तो, क्या इतने दिनों की घोर तपस्या के बाद भी सोभरि के चित्त में प्रपञ्च से विरति और भगवान् के चरणों में सच्ची रति न होती?

वैराग्य से वैराग्य ग्रहण कर तथा तपस्या को तिलाञ्जलि देकर महर्षि सोभरि प्रपञ्च की ओर मुड़े और अपनी गृहस्थी जमाने में जुट गये। विवाह की चिन्ता ने उन्हें कुछ बेचैन कर डाला। गृहिणी घर की दीपिका है; धर्म की सहचारिणी है। पत्नी की खोज में उन्हें दूर-दूर की सैर करनी पड़ी। रत्न खोज करने पर ही प्राप्त होता है, घर के कोने में अथवा दरवाजे पर बिखरा हुआ थोड़े ही मिलता है। उस समय महाराज त्रसदस्यु के प्रबल प्रताप के सामने सप्तसिन्धु के समस्त नरेश नतमस्तक थे। वे पुरुवंश के मणि थे; पुरुकुत्स के पुत्र थे। उनका 'त्रसदस्यु' नाम नितान्त सार्थक था। आर्यों की सभ्यता से सदा द्वेष रखनेवाले दस्युओं के हृदय में इनके नाममात्र से कम्प उत्पन्न हो जाता था। वे सप्तसिन्धु के पश्चिमी भाग पर शासन करते थे। महर्षि को यमुनातट से सुवास्तु (सिन्धुनद की सहायक स्वात नदी) के तीर पर राजसभा में सहसा उपस्थित देख कर उन्हें उतना आश्चर्य नहीं हुआ, जितना उनके राजकुमारी से विवाह-विषयक प्रस्ताव पर। इस अवस्था में इतनी कामुकता ! इनके तो अब दूसरे लोक में जाने के दिन समीप आ रहे हैं; परन्तु आज भी इस लोक में गृहस्थी जमाने का यह आग्रह है !! परन्तु सोभरि की इच्छा का विघात करने से भी उन्हें भय मालूम होता था। उनके हृदय में एक विचित्र द्वन्द्वयुद्ध मच गया। एक ओर तो वे अभ्यागत तपस्वी की कामना पूर्ण करना चाहते थे, परन्तु दूसरी ओर उनका पितृत्व चित्त पर आघात देकर कह रहा था—इस वृद्ध जरद्गव के गले में अपनी सुमन-सुकुमार सुता को मत बाँधो। राजा ने इन विरोधी

वृत्तियों को बड़ी कुशलता से अपने चित के कोने में दबा कर सोभरि के सामने स्वयंवर का प्रस्ताव रखा। उन्होंने कहा—'क्षत्रिय-कुल की कन्याएँ गुणवान् पति को स्वयं वरण किया करती हैं। अतः आप मेरे साथ अन्तःपुर में चलिये। जो कन्या आपको अपना पति बनाना स्वीकार करेगी, उसे मैं आपके साथ विधिवत् विवाह दूँगा।' राजा वृद्ध को अपने साथ लेकर अन्तःपुर में चले, परन्तु उनके कौतुक की सीमा न रही, जब वह वृद्ध अनुपम सर्वाङ्गशोभन युवक के रूप में महल में दीख पड़ा। रास्ते में ही सोभरि ने तपस्या के बल से यह रूप-परिवर्तन कर डाला था। जो देखता वही मुग्ध हो जाता। स्निग्ध श्यामल शरीर, ब्रह्मवर्चस् से चमकता हुआ चेहरा, उन्नत ललाट, अङ्गों में यौवनसुलभ स्फूर्ति, नेत्रों में विचित्र दीप्ति; जान पड़ता था मानो स्वयं अनङ्ग अङ्ग धारण कर रति की खोज में सजे हुए महलों के भीतर प्रवेश कर रहा हो। सुकुमारी राज-कन्याओं की दृष्टि इस युवक तापस पर पड़ी। चार आँखें होते ही उनका चित्त-भ्रमर मुनि के रूप-कुसुम की माधुरी चखने के लिये विकल हो उठा। पिता का प्रस्ताव सुनना था कि सब ने मिल कर मुनि को घेर लिया और एक स्वर से मुनि को वरण कर लिया। राजा मे अपनी प्रतिज्ञा पूरी की।

सुवास्तु के सुन्दर तट पर विवाह-मण्डप रचा गया। महाराज त्रसदस्यु ने अपनी पचास पुत्रियों का विवाह महर्षि सोभरि काण्व के साथ पुलकितवदन होकर सम्पन्न कर दिया और दहेज में विपुल सम्पत्ति दी—सत्तर-सत्तर गायों के तीन झुण्ड, श्याम वर्ण वृषभ—जो इन सबों के आगे-आगे चलता था, अनेक

घोड़े, नाना प्रकार के रंग-बिरंगे कपड़े, अनमोल रत्न। गार्हस्थ्य जीवन को रसमय बनानेवाली समस्त वस्तुओं को एक साथ एक ही जगह पाकर मुनि की कामना-वल्ली लहलहा उठी। इन चीजों से सज-धज कर रथ पर सवार हो मुनि जब यमुना-तट की ओर आ रहे थे, उस समय रास्ते में वज्रपाणि भगवान् इन्द्र का देवदुर्लभ दर्शन उन्हें प्राप्त हुआ। ऋषि आनन्द से गद्गद स्वर में स्तुति करने लगे—

हे भगवन्, आप अनाथों के नाथ हैं और हमलोग बन्धु-हीन ब्राह्मण हैं। आप प्राणियों की कामनाओं की सद्यः पूर्ति करने वाले हैं। आप सोमपान के लिए अपने तेज के साथ हमारे यहाँ पधारिये[1]।

'स्तोत्रं कस्य न तुष्टये।' इस स्तुति को सुन कर देवराज अत्यन्त प्रसन्न हुए और ऋषि से आग्रह करने लगे कि 'वर माँगो।' सोभरि ने अपने मस्तक को झुका कर विनय-भरे शब्दों में कहना आरम्भ किया—'प्रभो! मेरा यौवन सदा

---

१ वयं हि त्वा बन्धुमन्तम-
बन्धवो विप्रास इन्द्र येमिम।
या ते धामानि वृषभ तेभिरा
गहि विश्वेभिः सोमपीतये॥
नकी रेवन्तं सख्याय
विन्दसे पीयन्ति ते सुराश्वः।
यदा कृणोषि नदनुं
समूहस्यादित् पितेव हूयसे॥
(ऋ० ८।२१।४, १४)

बना रहे; मुझ में इच्छानुसार नाना रूप धारण करने की शक्ति हो, अक्षय रति हो और इन पचास पत्नियों के साथ एक ही समय रमण करने की सामर्थ्य मुझ में हो जाय। वे विश्वकर्मा मेरे लिये सोने के महल बना दें, जिनके चारों ओर कल्पवृक्ष से युक्त पुष्प-वाटिकाएँ हों। मेरी पत्नियों में किसी प्रकार की स्पर्धा, परस्पर कलह कभी न हो। आप की दया से मैं गार्हस्थ्य-जीवन का पूरा-पूरा सुख उठा सकूँ।'

इन्द्र ने गम्भीर स्वर में कहा—'तथास्तु!' देवता ने भक्त की प्रार्थना स्वीकार कर ली। भक्त का हृदय आनन्द से गद्गद हो उठा।

४

वस्तु की प्राप्ति की आशा में जो आनन्द आता है, वह उसकी प्राप्ति में नहीं। मनुष्य उसे पाने के लिये बेचैन बना रहता है, लाखों कोशिशें करता है; उसकी कल्पना से ही उसके मुँह से लार टपकने लगती है, परन्तु वस्तु के करतलगत होते ही उसमें विरसता आ जाती है, उसका स्वाद फीका पड़ जाता है, उसकी चमक-दमक जाती रहती है और दिन-प्रतिदिन की गले पड़ी वस्तुओं के ढोने के समान उसका भी ढोना दूभर हो जाता है। गार्हस्थ्य में दूर से आनन्द अवश्य आता है, परन्तु गले पड़ने पर उसका आनन्द उड़ जाता है, केवल तल-छट बाकी रह जाता है।

महर्षि साभरि के लिये गार्हस्थ्य-जीवन की लता हरी-भरी सिद्ध नहीं हुई। बड़ी-बड़ी कामनाओं को हृदय में लेकर वे इस

घाट उतरे थे, परन्तु यहाँ विपदा के जल-जन्तुओं के कोलाहल से सुख-पूर्वक खड़ा होना भी असम्भव हो गया। विचारशील तो वे थे ही। विषय-सुखों को भोगते-भोगते निर्वेद—और अब सच्चा निर्वेद—उत्पन्न हो गया। सोचने लगे—"क्या यही सुखद जीवन है जिस के लिये मैंने वर्षों की साधना का तिरस्कार किया है? मुझे धन-धान्य की कमी नहीं है; गो-सम्पत्ति मेरी अतुलनीय है; क्षुधा की ज्वाला के अनुभव करने का अशुभ अवसर मुझे कभी नहीं आया; परन्तु मेरे चित्त में चैन नहीं !! कल-कण्ठ कामिनियों के कोकिल-विनिन्दित स्वर ने मेरे जीवन-वाटिका में वसन्त के लाने का उद्योग किया; वसन्त आया, पर उसकी सरसता टिक न सकी। बालक-बालिकाओं की सुमधुर काकली ने मेरे जीवनोद्यान में पावस को ले आने का प्रयत्न किया, परन्तु मेरा जीवन सदा के लिये हरा-भरा न हो सका। हृदय-वल्ली कुछ काल के लिये जरूर लहलहा उठी, परन्तु पतझड़ के दिन शीघ्र आ धमके; पत्ते मुरझा कर झड़ गये। क्या यही सुखमय गार्हस्थ्य-जीवन है? बाहरी प्रपञ्च में फँस कर मैंने आत्म-कल्याण को भुला दिया। मानव-जीवन की सफलता इसी में है कि योग के द्वारा आत्म-दर्शन किया जाय—'यद्योगेनात्म-दर्शनम्', परन्तु भोग के पीछे मैंने योग को भुला दिया; अनात्मा के चक्कर में पड़ कर मैंने आत्मा को बिसार दिया और प्रेयोमार्ग का अवलम्बन कर मैंने 'श्रेयः'—अत्यन्तिक सुख—की उपेक्षा कर दी। भोगमय जीवन वह भयावनी भूल-भुलैया है, जिस के चक्कर में पड़ते ही हम अपनी राह छोड़ बेराह चलने लगते हैं और अनेकों जन्म चक्कर काटने में ही बिता देते हैं। कल्याण के

मार्ग में जहाँ से चलते हैं, घूम फिर कर पुनः वहीं आ जाते हैं—एक डग भी आगे नहीं बढ़ पाते।

"कच्चा वैराग्य सदा धोखा देता है। मैं समझता था कि इस कच्ची उम्र में भी मेरी लगन सच्ची है, परन्तु मिथुनचारी मत्स्यराज की संगति ने मुझे इस मार्ग में ला घसीटा। सच्ची विरति हुए बिना भगवान् की ओर बढ़ना प्रायः असम्भव-सा ही है। इस विरति को लाने के लिये साधु-संगति ही सर्वश्रेष्ठ साधन है। बिना आत्मदर्शन के यह जीवन भारभूत है। अब मैं अधिक दिनों तक इस बोझ को नहीं ढो सकता।"

दूसरे दिन लोगों ने सुना—महर्षि सोभरि की गृहस्थी उजड़ गयी। महर्षि सच्चे निर्वेद से यह प्रपञ्च छोड़ जंगल में चले गये और सच्ची तपस्या करते हुए भगवान् में लीन हो गये। जिस प्रकार अग्नि के शान्त होते ही उसकी ज्वालाएँ वहीं शान्त हो जाती हैं, उसी प्रकार पति की आध्यात्मिक गति को देखकर पत्नियों ने भी उनकी संगति से सद्गति प्राप्त की। संगति का फल बिना फले नहीं रहता।

उदर-ज्वाला

१

सम्राट् हरिश्चन्द्र वैधस के चित्त में तनिक भी चैन न था। विषाद की कालिमा ने विशाल, समृद्ध इक्ष्वाकुमण्डल के एकछत्र अधिपति के मन को कलुषित बना रखा था। उनका प्रासाद समस्त सौख्य से सुसज्जित था। विजयी इक्ष्वाकु क्षत्रियों पर उनका एकमात्र प्रभुत्व था, पर सम्राट् के चित्त का विकार इन वस्तुओं के रहने पर भी रंचकमात्र कम नहीं होता। उनका महल रुक्ममण्डित एकशत रानियों की देह-प्रभा से चमक उठता, परन्तु उनके हृदयगत विषाद का घना अन्धकार तनिक भी न्यून नहीं हुआ। सम्राट् के अन्यमनस्क होने का प्रधान कारण पुत्र का अभाव था। उनके जीवनोद्यान में पतझड़ के दिन आ गये थे, परन्तु अभी तक न तो उनके नेत्रों की पुत्र के मुग्ध मुख-मण्डल के देखने की लालसा हो चरितार्थ हुई थी और न उनके कानों की पुत्र की तोतली बोली सुनने की इच्छा ही पूरी हुई थी। उनका हृदय उन दिनों के लिए लालायित था जब पुत्र के पैर की पैजनी के रुनझुन शब्द से उनके अन्तःपुर का प्राङ्गण मुखरित होगा तथा उनकी हृदयविपञ्ची एक बार भी झंकारित हो उठेगी। दिन आये और चले गये। रातें आईं और चली गईं। परन्तु

हरिश्चन्द्र के हृदय में पुत्र-दर्शन की लालसा आई, परन्तु गई नहीं।

संयोगवश एक दिन महर्षि नारद ने दर्शन दिया। संसार के उपकार के लिए जीवन बिताने वाले महात्मा को देखकर सम्राट् का हृदय आनन्द से विकसित हो उठा।

राजा ने नारद के सत्कार करने में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होने दी। ऋषि कुछ क्षणों तक अवश्य प्रसन्न हुए, परन्तु राजा का मलिन मुख देखकर उनका हर्ष खेद के रूप में परिणत हो गया। उन्होंने उनके दुःख का कारण पूछा। राजा ने अपने बिषाद का कारण कह सुनाया और बड़े विनय से पूछा—महर्षे, क्या कारण है कि विवेक से सम्पन्न मनुष्य तथा विवेक से हीन पशुपक्षी पुत्र की प्राप्ति के लिए समान भाव से इतने उत्सुक रहते हैं। पुत्र-प्राप्ति से उनके किस पुरुषार्थ की सिद्धि होती है? जिसके बिना वे सर्वथा सुखमय जीवन को भी दुःख तथा निराशा में बिताया करते हैं।

"बड़ा ही सुन्दर प्रश्न है, राजन्"—ऋषि ने बड़े प्रेम से कहा और यह कहते समय उनके होठों पर स्वाभाविक प्रसन्नता की रेखा दौड़ गई। "पुत्र तो गार्हस्थ्य जीवन की मूल भित्ति है। इस संसार में आने वाले प्रत्येक आर्य के ऊपर तीन ऋणों का बोझ रहता है जिसका चुकाना उसका परम कर्तव्य है। अध्यापन के द्वारा ऋषि-ऋण तथा यज्ञ याग से देव-ऋण का तो परिशोध किया जा सकता है, परन्तु पुत्र के बिना पितृऋण से मनुष्य उऋण नहीं हो सकता। पुत्र के द्वारा पिता ऐहिक तथा आमुष्मिक—लौकिक और पारलौकिक—उभयविध गहन

अन्धकार के निराकरण में समर्थ होता है। पुत्र वस्तुतः अति तारिणी तथा इरावती नौका है—दुःखार्णव से पार करने वाली तथा अन्न से सम्पन्न नाव है। मनुष्य के लिए अन्न ही प्राण है, वस्त्र ही शरण—गृह—है, हिरण्य रूप है, पशु विवाह है, जाया सखा है, दुहिता कृपण रूप है, और पुत्र ज्योतिः है जो पिता के अन्धकार को दूर कर उसे परम व्योमन् में, परम ब्रह्म में, प्रतिष्ठित कर देता है। इसीलिए गृहस्थ के लिए जाया का भी नितान्त महत्त्व है। पति स्वयं गर्भरूप से पत्नी में प्रवेश करता है और दसवें महीने में पुनः नवीनरूप धारण कर उत्पन्न होता है। इसी कारण पुत्र आत्मा का रूप माना जाता है। 'जाया' शब्द के महत्त्व को क्या कभी आपने विचारा है? पिता के पुत्र रूप से जन्म लेने के कारण ही जाया का जायात्व निष्पन्न होता है। भारतीय संस्कृति में गृहस्थ आश्रम को इसीलिए अन्य आश्रमों की अपेक्षा विशेष प्रतिष्ठा मानी गई है। उस आश्रम के धर्म को यथावत् निर्वाह करना चाहिए। यह सिद्धान्त नितान्त सत्य है कि पुत्र के विना गृहस्थ की गति नहीं होती। शास्त्रकारों ने समाज को अक्षुण्ण बनाये रखने का यही उपाय बतलाया है"। राजा ने कहा—"भगवन्, आपका कथन बिल्कुल ठीक है, परन्तु क्या कोई उपाय है? जिससे यह मनोरथ सिद्ध किया जाय। इस विशाल इक्ष्वाकु राज्य के उत्तराधिकारी न पाने के कारण ही मैं अपने को हतभाग्य मानता हूँ"।

"राजन्, उपायों की कमी नहीं है। उपाय में पूर्ण श्रद्धा के भाव रखने से ही फल की प्राप्ति अवश्यम्भावी है। प्राकृत उपायों के फलदायी न होने पर अतिप्राकृत उपाय का निष्पादन

अवश्य फलदायी होगा। पुत्र प्राप्ति के लिए वरुण से सच्चे हृदय से प्रार्थना करो। मुझे पूरा विश्वास है आपकी कामनावल्लि निश्चय ही पुष्पित तथा फलित होगी। वरुण सर्वज्ञ तथा सर्व शक्तिमान् हैं। उनकी दृष्टि बड़ी व्यापक है—वे 'उरुचक्षाः' तथा 'विश्वतश्चक्षुः' हैं। वे मनुष्यों के हृदयगत भावनाओं तथा कामनाओं के जानने में सर्वथा कृतकार्य होते हैं। कोई भी कार्य कितना भी छिपा कर किया जाय, वह वरुण की दृष्टि से ओझल नहीं हो सकता। इस ब्रह्माण्ड के संचालन तथा नियमन का सूत्र इन्हीं के हाथ में है। इसीलिए वे 'ऋतावृधः' तथा धृतव्रतः' कहलाते हैं। सच्चे हृदय, सरलभाव, से की गई प्रार्थना के सफल होने में तनिक भी विलम्ब नहीं होता।"

नारद की आज्ञा मानकर सम्राट् हरिश्चन्द्र ने भक्ति से गद्गद स्वर में वरुणदेव से विनम्र प्रार्थना की—भगवन्, यदि मुझे पुत्र उत्पन्न होगा, तो उसे मैं आपको समर्पण कर दूँगा। मेरी पुत्र-प्राप्ति की बलवती लालसा को सफल बनाइए।

२

सम्राट् हरिश्चन्द्र की राजधानी में आज आनन्द का सोता बह रहा है। जिधर देखिए उधर ही आनन्द की मस्ती छाई हुई है। संगीत की स्वर लहरी से समस्त नगरी प्रतिध्वनित हो उठी है। पवन के झोके से नाचनेवाली लतायें झुक झुक कर अपना उल्लास प्रकट कर रही हैं। कोकिलाएँ अपनी प्यारी कूक सुना कर अपने बन्धु वर्गों की ओर से इस उत्सव का स्वागत कर रही हैं। राजा के महल में तथा प्रजा के घरों में परिचारिकायें मंगल गीत गाकर अपने हृदय का हर्ष अभिव्यक्त कर रही हैं।

राजा का मुर्झाया मुखमण्डल खिल उठा है। रानियों की आँखों में आनन्द के आँसू झलकने लगे हैं। हर्ष का आज विशेष कारण है। सम्राट् हरिश्चन्द्र को पुत्र उत्पन्न हुआ है। उनकी वर्षों की कामना आज सफल हुई है।

इधर पुत्र का उत्पन्न होना था, उधर वरुणदेव आकर उपस्थित हो गए। उनके शरीर पर सुवर्ण का बना द्रापि (कवच) नेत्रों को चकाचौंध बना रहा था। उनके हाथ में पाश चमक रहा था। राजा को यह समझने में देर न लगी कि जिनकी कृपा से मेरे भाग्य का यह सुप्रभात हुआ है वे ही वरुणदेव साक्षात् उपस्थित हुए हैं। आते ही उन्होंने राजा से कहना आरम्भ किया—

राजन्, अपनी प्रतिज्ञा पूरी करो और इस बालक को मुझे समर्पण करो। राजा ने नम्रभाव के साथ कहा—"देव, यह सद्योजात शिशु अभी तक अमेध्य है, यज्ञ के लिए उपयुक्त, पवित्र पात्र नहीं है। दस दिनों के बीतने के बाद यह पवित्र होगा।" वरुण लौट गए और दस दिनों के पीछे आकर बालक को माँगने लगे। राजा ने कहा—जब पशु के दाँत जम जाते हैं तब वह मेध्य होता है। इसके दाँत जम जाने दीजिए। दाँतों के उगने पर वरुण ने अपनी माँग दुहराई। राजा ने उत्तर दिया—जब पशु के दाँत गिर जाते हैं, तब वह मेध्य होता है। इसके दाँत गिर जाँय, तब इसके द्वारा मैं आपका यजन करूँगा। वरुण दाँतों के गिरने के बाद पधारे और यज्ञ करने की स्मृति दिलाई। राजा ने फिर से दाँत निकल जाने तक प्रतीक्षा करने की बात कही। बालक के दाँत फिर आने के साथ वरुण भी

आये, परन्तु राजा ने क्षत्रिय के लिए कवच धारण करने की योग्यता को मेध्यता का चिह्न बताया। वरुण ने बात मान ली। जब रोहित धनुषबाण धारण करने तथा कवच पहनने की अवस्था में आया, तब राजा हरिश्चन्द्र ने उसे अपने पास बुला कर सारी घटनायें क्रमशः सुना दीं—तात, वरुण के अलौकिक अनुग्रह से तुम्हारा जन्म हुआ है। वरुण ने बड़ा उपकार किया है। अब तुम योग्य हो, युवा हो, मेध्य हो; अब मुझे अपनी प्रतिज्ञा के पालन का समय आ गया है। अब तुम तैयार हो जावो। देवता के लिए शरीर का समर्पण मनुष्य के लिए सब से बड़ा श्लाघनीय कार्य है।

रोहित ने सारी बातें सुनीं, परन्तु पिता की बातों को बिना कान किए उसने जंगल का रास्ता पकड़ा। शरीर में यौवन का उमंग था। अंग अंग में वीर रस प्रवाहित होता था। नसों में गरम लहू बहता था। भला ऐसी दशा में वह निर्बल की तरह आत्म-समर्पण करने के लिए कैसे उद्यत हो सकता था? धनुष्-बाण हाथ में लेकर वह जंगल में चला गया। धीरे २ दिन बीत चले, दिनों के बाद महीने आये और चले गए, एक नहीं, दो नहीं, पूरे बारह; परन्तु रोहित जंगल से नहीं आया। साल भर तक वरुण ने उसकी प्रतीक्षा की, परन्तु उसके न लौटने पर वरुण के कोप से राजा हरिश्चन्द्र के शरीर में भीषण रोग का आक्रमण हुआ। जल के अधिपति वरुण के क्षोभ से शरीर का जलीय तत्त्व क्षुब्ध हो उठा। राजा को जलोदर ने आ घेरा। देखते-देखते उसका उदर बढ़ने लगा। चेहरे का रंग पीला पड़ गया। प्रजा चिन्तित हो उठी। देवता के कोप के

प्रत्यक्ष फल को देख कर सब के हृदय में विषाद तथा त्रास का संचार हो गया।

३

राजा की बिमारी की बात देश भर में दावाग्नि की तरह फैल गई। जो सुनता उसीके नेत्र विषाद के आँसुओं से सजल हो जाते। धीरे-धीरे इस घटना ने अरण्य के विजन प्रान्तर के भीतर प्रवेश किया। रोहित के कानों में भी इसकी ध्वनि गूँजने लगी। घटना के श्रवणमात्र से उसकी दशा में बड़ा विचित्र परिवर्तन हो गया। अरण्य के भीतर भ्रमण का उत्साह जाता रहा; मन में एक नये प्रकार की अशान्ति ने आसन जमाया। वह सोचने लगा कि मैंने इस जंगल में आकर बड़ा ही जघन्य कार्य किया। बेचारे पिता पर इस आकस्मिक आपत्ति के आने का एकमात्र कारण मैं ही हूँ। उसके नेत्रों के सामने अपने पिता का वह चमकता हुआ चेहरा उपस्थित हो आया, जब वे आनन्द से आत्मविस्मृत होकर रोहित को अपनी गोदी में खेलाया करते थे। हाय! उस सौम्य मूर्ति में अब कितना परिवर्तन हो गया होगा। रोग के विषम प्रभाव के चिन्तनमात्र से उसके रोंगटे खड़े होने लगे। उसने अब लौटने का निश्चय किया, परन्तु स्वार्थ बुद्धि जोर का धक्का देकर धीरे से कहने लगी—क्यों अपने स्वच्छन्द जीवन के ऊपर ताला लगाना चाहते हो। इस बार वरुण के सामने तुम्हारा समर्पण निश्चितप्राय है। ऐसी दशा में तुम्हें अपने प्यारे प्राणों का मोह नहीं है जो इस विषम मार्ग में अग्रसर बन रहे हो। परन्तु परमार्थ बुद्धि कहती—पिता की विपत्ति के एकमात्र कारण तुम ही हो। तुम्हारे इस

विषम कृत्य के कारण ही वह देवताओं की दृष्टि में दोषी बना हुआ है। तुम ही ने हरिश्चन्द्र की विमल कीर्ति पर कालिमा पोतने का उद्योग किया है। उस प्रजावत्सल महीपति को प्रजा की दृष्टि में हेय बनाने का अपराध तुम्हारे ही ऊपर है। अब भी समय है। अपने पापों का प्रायश्चित्त करो। पिता का कुछ भी तो उपकार करो। रोहित ने इस विरोध का अनुभव किया और परमार्थबुद्धि के कथन को शिरोधार्य कर वह जंगल से नगर की ओर लौट पड़ा।

थोड़ी ही दूर जाने के अनन्तर उसे एक विचित्र पुरुष का दर्शन प्राप्त हुआ। उनके बलिष्ठ गठीले शरीर पर ब्रह्मवर्चस् चमक रहा था। उन्हें देखते ही किसी विशिष्ट पुरुष का उन्हें आभास मिला। रोहित को सम्बोधित कर वह पुरुष कहने लगा—हे रोहित, हम लोगों ने सुन रखा है कि अनाश्रान्त पुरुष को श्री वरण नहीं करती। उद्योगशील बनकर काम में अपने को श्रान्त बना देने वाला पुरुष ही लक्ष्मी का भाजन बनता है। गुणों में श्रेष्ठ होने पर भी जो व्यक्ति मनुष्यों में ही टिकने वाला है, बन्धुओं के घर में पड़ा रहता है, वह समाज में नितान्त तुच्छ गिना जाता है। इन्द्र संचरणशील पुरुष के मित्र होते हैं। अतः तुम संचरणशील बने रहो; घर न लौटो"। पुरुष का उपदेश रोहित के हृदय में घर कर गया और वह साल भर तक उसी वन में घूमता रहा।

दूसरे वर्ष घर लौटने के समय फिर वही ब्राह्मण देवता उद्योग की स्तुति करने लगे—पर्यटन करने वाले पुरुष की दोनों जंघायें शोभासम्पन्न हो जाती हैं, लताओं के पुष्पित होने के

समान जंघायें भी पुष्पिणी बन जाती हैं। और उसकी आत्मा फल सम्पन्न हो जाती है। उसके पाप पवित्र तीर्थस्थान में देव-दर्शन से सदा के लिए सो जाते हैं। अतः तुम अभी संचरण में निरत बनो।" रोहित ने इस उपदेश का अक्षरशः पालन किया और तीसरे वर्ष के आरम्भ में गृहोन्मुख होने पर फिर उसी व्यक्ति ने उसी प्रकार निषेध किया। चौथे तथा पाँचवें साल के आरम्भ में इसी घटना की पुनरावृत्ति हुई। पुरुषरूप में इन्द्र ने उद्यम तथा पर्यटन की प्रशंसा करते विराम नहीं लिया। वह रोहित को सदा यही उपदेश दिया करते—हाथ पर हाथ रख बैठने वाले व्यक्ति का भाग्य बैठा रहता है, उठने वाले का भाग्य उठता है; लेटने वाले का भाग्य भी लेटा रहता है और संचरणकारी का भाग्य गतिशील बना रहता है। शयन की दशा कलि है, निद्रा का परित्याग द्वापर है, उत्थान त्रेता है और संचरण कृतयुग है। निद्रा से लेकर संचरण तक की चारों अवस्थायें ही चतुर्युग की प्रतीक रूप हैं। पर्यटन से मधु प्राप्त होता है, संचरण से स्वादु उदुम्बर प्राप्त होता है ; इस तत्त्व के निदर्शक भगवान् सविता हैं जो सन्तत संचरण करने पर भी कभी श्रान्त नहीं होते।

इन्द्र के इस उपदेशानुसार जंगल में भ्रमण करते समय रोहित को एक नई बात सूझी—क्या किसी अन्य मनुष्य को देकर मैं अपनी निष्कृति पा सकता हूँ? यज्ञ में प्रतिनिधि से अनुष्ठान की प्रथा खूब प्रचलित है। इस उपाय से दोनों बातें सिद्ध हो जाती हैं—वरुण की प्रसन्नता होगी तथा अपने जीवन से भी हाथ धोना न पड़ेगा।

४

सन्ध्या का समय था। भगवान् भास्कर अपनी किरणों को समेट कर पश्चिम क्षितिज के नीचे जा चुके थे। अन्धकार धीरे-धीरे गगनमण्डल में अपना काला पंख फैला रहा था। रजनी अपना काला घूँघट काढ़ने के लिए उतावली कर रही थी। दिन भर आहार की खोज में निकलने वाली पक्षियाँ अपने नीडवृक्ष पर बैठकर उसी तरह तुमुल कलरव कर रही थीं जिस तरह घर लौटते समय रोहित के हृदय में विभिन्न वृत्तियाँ प्रमुखता पाने के लिए आपस में लड़ झगड़ रही थीं। रोहित ने जो दृश्य देखा उससे उनका हृदय विदीर्ण होने लगा। सामने थी एक टूटी-फूटी, जीर्ण-शीर्ण पर्णकुटी, जिसके द्वार पर बैठे हुए पाँच जन कभी अपने भाग्य को कोस रहे थे और कभी अपने कर्म को। अन्न न मिलने से शरीर सूखकर काँटा हो गया था। भूख के मारे वे व्याकुल थे। इस निर्जन वन में न कोई उनका सहायक था, और न कोई उदार धनिक था जिसकी सहानुभूति उनके जीवन को दुःखसमुद्र से बचाने के लिए नौका का कार्य करती। ये पाँचो जन एक ही ब्राह्मण परिवार के अन्तर्भुक्त थे—ब्राह्मण दम्पती और तीन पुत्र। ब्राह्मण का नाम था—अजीगर्त सौयवसि और उनके तीनों पुत्रों के नाम थे—शुनःपुच्छ, शुनःशेप और शुनो लाङ्गूल। रोहित के मुखमण्डल से ओजस्विता तथा पराक्रम टपकता था। ऐसे प्रभावशाली व्यक्ति को अकस्मात् अपने पास आया देख इन लोगों ने ढाढ़स बाँधा। इनकी शारीरिक अवस्था देखकर रोहित को इनकी मानसिक स्थिति समझने में देर न लगी, उसने इनका उपकार करना चाहा, परन्तु स्वार्थ को

भुला कर नहीं। रोहित का मस्तिष्क सलाह देने लगा—इन ऋषि-पुत्रों में एक को क्यों न खरीद लेते ? ऋषि की भी विपत्ति टल जायगी और तुम्हारी भी निष्कृति बन आवेगी। पर हृदय द्रुतवेग से कह उठा—बालक को माता-पिता की गोदी से छीन लेना कहाँ का न्याय है। बेचारे गरीब हैं। भूख की मार मर रहे हैं। प्राणों की रक्षा के वास्ते प्राणप्यारे बच्चे का वियोग सहने के लिए तैयार हो सकते हैं, परन्तु मर्मस्थल को स्पर्श करने वाला यह प्रस्ताव करना क्या उचित होगा ?

रोहित ने हृदय की बात चुपके से दबा दी और मस्तिष्क की सलाह मानकर ब्राह्मण के सामने अपना प्रस्ताव रखा—मुझे एक बालक को अपना प्रतिनिधि बनाने की आवश्यकता है। मैं एक शत गायें देने के लिए तैयार हूँ। आप दोनों आपस में सलाह कर लें। इंगित से ऋषिदम्पती की स्वीकृति मिल जाने पर रोहित ने जेठे पुत्र शुनःपुच्छ को अपने साथ चलने को कहा। सुनते ही अजीगर्त विह्वल होकर बोल उठे—जेठा पुत्र पिता की समग्र आशाओं का आश्रय रहता है ; मैं इसे बेचने के लिए कथमपि तैयार नहीं हूँ। कनिष्ठ पुत्र को हाथ लगाते ही माता चिल्ला उठी—मैं अपने को बेंचने के लिए उद्यत हूँ, परन्तु कनिष्ठ पुत्र को बेंच नहीं सकती। छोटा बेटा माता की ममता का मुख्य आधार है; माता की कमनीय कल्पनाओं का केंद्र है ; कोमल कामनाओं का प्रधान पीठ है। मैं इस छोटे बेटे के लिए सर्वस्व निछावर करने के लिए तैयार हूँ। इसे छीनकर मेरी गोदी सूनी मत करो।

बेचारे लाचार होकर रोहित ने मध्यम पुत्र शुनःशेप को

अपने साथ लिया और उनके बदले में पूरी एक सौ गायें ऋषि अजीगर्त को सौंप दीं।

५

राजकुमार कुशल-पूर्वक घर लौट आया। प्रजावर्ग में आनन्द छा गया। चारों ओर हर्ष मनाया जाने लगा। रोहित ने अपना मस्तक पिता के चरणों पर रख कर गद्गद होकर प्रणाम किया। पिता ने पुत्र को उठा कर उसका मस्तक सूँघा। हरिश्चन्द्र का शरीर रोग-समुद्र में धँसता जा रहा था, उसे अब डूबते हुए को तिनके के समान, एक विशिष्ट सहारा मिल गया। रोगी के पीले मुखमण्डल पर आशा की मधुर मुसुकराहट की एक रेखा दौड़ पड़ी। मुरझाया चेहरा खिल उठा। पुत्र के लौटने के साथ साथ पिता के जीवन की आशा भी लौट आई। परन्तु बलिदान की कल्पनामात्र से उसके शरीर के रोंगटे खड़े हो गये। रोहित उसका जीवन-सर्वस्व था, उसकी समग्र ललित अभिलाषाओं का केन्द्र था। सुन्दर मुखमण्डल, जवानी की मस्ती में झूमने वाली आँखें, गठीला देह, उन्नत ललाट, चौड़ा वक्षःस्थल, वृषभ के समान उसका उभरा हुआ कन्धा—ऐसे पुत्ररत्न को वरुणदेव के समर्पण की कल्पना ने राजा के हृदय में विपुल विषाद उत्पन्न कर दिया। वह उस घड़ी को कोसने लगा जब उसने स्वार्थ की वेदि पर अपने प्यारे पुत्र की बलि देने का संकल्प किया था। उसके हृदय में पुत्रप्रेम तथा धर्मभाव में तुमुल संग्राम मचने लगा। कर्तव्य बुद्धि ने राजा को बाध्य किया कि वह अपनी प्रतिज्ञा निभावे। राजा ने कर्तव्य-बुद्धि के सामने सिर झुकाया। उसे यह जान कर बड़ी प्रसन्नता हुई

कि रोहित ने अपना निष्क्रय तैयार कर लिया है। वह अपने बदले में शुनःशेप को बलि देने के लिए खरीद कर लाया है। राजा ने वरुणदेव के सामने यह प्रस्ताव उपस्थित किया। क्षत्रिय के स्थान पर ब्राह्मण पशु की बलि की बात सुन कर वरुण नितान्त प्रसन्न हुए और 'भूयान् वै ब्राह्मणः क्षत्रियात्' कह कर उक्त प्रस्ताव को स्वीकृत कर लिया। राजा से बोले कि अब देर करने की क्या आवश्यकता है? राजसूय के अभिषेचनीय याग में इस पशु का आलम्भन होना चाहिए। हरिश्चन्द्र ने वरुण की स्वीकृति को अपना अहोभाग्य माना और यज्ञ को उचित तैयारी करने में वे जुट गये।

× × ×

आज सम्राट् हरिश्चन्द्र की नगरी में खूब चहल-पहल है। राजसूय के अन्तर्गत प्रधान अभिषेचनीय याग का विधान होने वाला है। फाल्गुन के शुक्ल प्रतिपद् से राजसूय का आरंभ है। आज पूरे एक वर्ष के अनन्तर चैत्र प्रतिपद् को अभिषेचनीय याग की दीक्षा का मंगलमय प्रभात है। राजा ने विधिवत् दीक्षा ग्रहण की। तदनन्तर तीन दिनों तक 'उपसद्' का अनुष्ठान होता रहा। पाँचवा दिन 'सुत्या दिवस' है जब सोमलता का अभिषवण कर आहुति देने का विधान है। पुरुष-पशु के बलिदान की आज ही बारी है। दर्शक मण्डली के कौतुक तथा उत्सुकता की सीमा नहीं है। अनुष्ठान की विधिवत् सम्पत्ति तथा समृद्धि के लिए राजा ने विज्ञ महर्षियों को निमन्त्रित कर रखा है। विश्वामित्र होता, जमदग्नि अध्वर्यु, वसिष्ठ ब्रह्मा तथा अयास्य उद्गाता के पद पर प्रतिष्ठित किये गये हैं। सामने

वेदियों पर समिधा से समृद्ध अग्निदेव प्रदीप्त हो रहे थे और उनके धूम आकाश-मण्डल में वायु के साथ अठखेलियाँ करते हुए नाना प्रकार को चित्र-विचित्र आकृतियों का निर्माण कर रहे थे। खदिर का बना यूप दूर से ही अपनी स्थिति का परिचय दे रहा था। चन्दन तथा पुष्पमाला से सुसज्जित शुनःशेप उसी के पास खड़े होकर अपने भाग्य की परीक्षा में व्यस्त था। महर्षि जमदग्नि ने कुश से युक्त प्लक्षवृक्ष की शाखा से मन्त्रपुरःसर शुनःशेप का स्पर्श कर 'उपाकरण' विधि को सम्पन्न किया, परन्तु पुरुष को कटि, सिर तथा पैरों को रस्सियों से बाँध कर यूप में बाँधने का अवसर आते ही उनका हृदय काँप उठा। ऋषि का कोमल हृदय इस क्रूर कर्म के सम्पादन को चिन्तामात्र से पिघल उठा। बाँधने की क्षमता जमदग्नि में न देख कर महर्षि वसिष्ठ ने अजीगर्त से इस काम के लिये प्रस्ताव किया। पिता ने एक शत गायों की दक्षिणा लेकर अपने प्रिय पुत्र को रस्सियों से जकड़ कर बाँधा और उनके अगले भाग को यूप में बाँध दिया। दर्शकों की मण्डली में खलबली मच गई और सब के मुँह से तिरस्कार-व्यञ्जक शब्द आप से आप निकल पड़े। तदनन्तर अध्वर्यु ने आप्री मन्त्रों के द्वारा वध्य-पशु का आप्रीणन संस्कार तथा दर्भ की तीन बार प्रदक्षिणा कर पर्यग्नि-करण का अनुष्ठान कर दिया परन्तु शुनःशेप के आलम्भन का अवसर आते ही जमदग्नि इस कृत्य से पराङ्मुख हो गए। बड़ी विपत्ति सामने आ खड़ी हुई। बिना आलम्भन के याग का अनुष्ठान ही किस प्रकार सम्पन्न हो ? सब ऋषि लोग हाथ पर हाथ रख कर निरुत्साह बन गए, परन्तु अजीगर्त के पुष्ट हृदय

ने उपाय निकाला। यदि सौ गायों की भेंट उसे दी जाय, तो वह अपने ही हाथों अपने पुत्र का हिंसन करने के लिए तैयार था।

शुनःशेप के हृदय में यह विश्वास अब तक दृढ़मूल था कि पर्यग्निकरण संस्कार के अनन्तर वह यूप से खोल दिया जायेगा, क्योंकि पुरुष याग के अवसर पर यही प्राचीन पद्धति थी। परन्तु जब उसने पिता को हाथ में चमकते हुए तलवार को लपलपाते विशसिता के रूप में देखा, तब उसे निश्चय हो गया कि इस याग में ऋत्विग् लोग अमानुष पशु के भाँति उसे बलि देने से विरत न होंगे। हाथ में तलवार की तीक्ष्ण धार पर दृष्टि डालते हुए अजीगर्त को दर्शक मण्डली ने देखा; शुनःशेप ने भी। लोगों के आश्चर्य की सीमा न रही! इस अद्भुत दृश्य के अवसर पर दर्शकों को अपनी आँखों पर विश्वास न होता था। भला पिता धन के लोभ से कभी अपने ही पुत्र के गले पर छुरी क्या तलवार चलाने के लिए तैयार हो सकता है! उस पिता का हृदय किस वस्तु का बना हुआ है जो अपने ही हृदय के टुकड़े को इस प्रकार काञ्चन के व्यामोह में पड़कर अपने ही हाथ से जीवन के घाट उतारने के लिए उद्यत है। शुनःशेप की मानसिक व्यथा का चित्र किन रंगों में उतारा जाय? उसे उन दिनों की मीठी याद आने लगी जब अजीगर्त ने अपनी गोदी में बिठलाकर उसका लाड़-प्यार किया था, अपने सूखे चने चबाकर भी उसे मीठी रोटी खिलाई थी, तनिक बीमार होने पर सेज के पास बैठ पूरी रात चिन्ता तथा वेदना के साथ बिताई थी। प्राचीन जीवन की घटनाएँ चित्रपट के समान

एक के बाद एक आतीं, क्षण भर टिक कर अपनी स्मृति जगाकर अतीत को गोद में सो जाती थीं। हाय री धन की माया! तू सज्जन को भी किस कुमार्ग में नहीं ले जाती है? साधुजन को भी दुर्जन बना देती है। काञ्चन! जगत् में तुम्हारा ही साम्राज्य है, तुम्हारे प्रभाव को क्षण भर के लिए भो दूर करने की क्षमता किस व्यक्ति में है? तुम्हारी चमक किस गुणी को आँखों में चकाचौंध पैदा नहीं करती? बेचारा अजीगर्त आज तुम्हारे हो कारण कलङ्क को कालिमा अपने चेहरे पर पोत कर अपने को सभ्य समाज की लाञ्छना तथा भर्त्सना का पात्र बना रहा है!

संसार के किसो व्यक्ति से सहायता पाने को दुराशा को दूर कर शुनःशेप ने ऋत्विज्जनों की सलाह से परमात्मा की उन विभूतियों से प्रार्थना करना आरम्भ किया जिनके संचालन तथा संरक्षण में यह विश्व अपनी सत्ता तथा स्थिति बनाये हुए हैं। शुनःशेप ने प्रजापति, अग्नि, विश्वे देव, इन्द्र, अश्विन्, उषा तथा वरुण को स्तुति करना आरम्भ किया। हृदय को गाढ़भक्ति ऋङ्मन्त्रों का रूप धारण कर वैखरो रूप में अभिव्यक्त होने लगी। वरुण देव की मनोरम स्तुति से सभामण्डप गूँज उठा:—

हे सर्वज्ञ वरुण, आप अन्तर्यामी हैं, आप अपनी सर्वत्र व्यापक आलोचना शक्ति के सहारे प्राणियों के हृदय की बातें स्वयं जान लेते हैं। हे देदीप्यमान वरुण, मैं आपकी प्रजा ठहरा, आपके जिन नियमों को मैंने दिन प्रति-दिन भंग किया है, उनके लिए मुझे न तो अनादर करने वाले शत्रु के प्राणघातक

शत्रों का पात्र बनाइए और न क्रोधी बैरी के क्रोध का भाजन कीजिए[1]। आप इस विश्व के सम्राट् ठहरे। जिस समय सोने की बनी द्रापि (कवच) पहन कर आप अपने प्रासाद में बैठते हैं, उस समय आपके चर लोग चारों ओर से आपको घेर कर बैठते हैं। आपसे मेरी यही विनति है—

ऊपरी पाश को आप ऊपर से निकाल दीजिए, कटि को बाँधने वाले मध्यम पाश को आप खोलकर शिथिल कर दीजिए और पैर को बाँधने वाले निचले पाशों को नीचे से निकाल कर दूर कीजिए। मेरे जीवन की आशा इसी पर अवलम्बित है[2]।

भक्त की प्रार्थना कभी व्यर्थ नहीं होती। दर्शकों ने अचरज भरी आँखों से देखा कि क्षण भर में शुनःशेप के शरीर से बाँधने वाली रस्सियाँ टूक टूक होकर अलग हो गईं। वरुण ने अपनी बलि स्वीकृत कर ली। शुनःशेप कारामुक्त पुरुष की भाँति अपनी बेड़ियों से मुक्त हो गया। आनन्द तथा कौतुक से पूर्ण दर्शकमण्डली का जयघोष सभामण्डप को चीर कर आकाश को गुंजारित करने लगा।

सम्राट् हरिश्चन्द्र उदर व्याधि से एक क्षण में मुक्त हो

१—यच्चिद्धि ते विशो यथा प्र देव वरुण व्रतम्।
मिनीमसि द्यविद्यवि ॥
मा नो वधाय हत्नवे जिहीळानस्य रीरधः।
मा हृणानस्य मन्यवे ॥ ऋ० १।२४।१-२

२—उदुत्तमं मुमुग्धि नो वि पाशं मध्यमं चृत।
अवाधमानि जीवसे ॥ —ऋ० १।२४।२०

गए। ऋत्विग् लोगों के हृदय में देवता की स्तुति का सद्यः फल देखकर महती प्रसन्नता हुई और उन्होंने वरुण के द्वारा अनुगृहीत शुनःशेप को ही इस अभिषेचनीय याग की संस्था (समाप्ति) के लिए चुना। शुनःशेप ने 'अञ्जः सव' नामक सोम-याग का सम्यक् विधान किया। प्रथमतः सोम को दो प्रस्तर खण्डों से कूटकर उसका अभिषव-रस निकाला गया। पीछे उसे द्रोणकलश में रखकर ऊर्णा के बने 'पवित्र' के द्वारा छाना गया। तब विशिष्ट मन्त्रों के द्वारा शुनःशेप ने प्रज्वलित अग्नि में आहुति दी। अग्नि धक् धक् कर जलने लगा। यज्ञ की मंगलमय समाप्ति हो गई।

६

स्नेही पुरुषों के दुर्व्यवहार का धक्का बड़ा गहरा होता है। जिनके सद्व्यवहार पर हमारा पूर्ण विश्वास रहता है वे ही यदि उस रास्ते को छोड़कर कुमार्ग पर पैर रखते हैं और स्नेह के स्थान पर विद्वेष को आश्रय देते हैं, तो हमारा भावुक हृदय उनसे हटकर ऐसे स्थान की खोज में घूमता फिरता है जहाँ उसे स्नेह का तनिक भी आभास मिलता है। शुनःशेप की दशा ठीक उस पुरुष के समान थी जो पेशल रत्न के ग्रहण करने की भावना से हाथ बढ़ाता है, परन्तु हाथ में जलता हुआ अँगारा आ जाता है। जिसे वह रेशम की डोरी समझे हुए है वही विषैले साँप के रूप में डसने के लिए फूत्कार छोड़ता है। पुत्र के लिए पिता से बढ़कर कोई सहायक नहीं होता। परन्तु वही यदि लड़के के खून का प्यासा बन जाता है तो पुत्र किसकी सहायता की आशा करे?

अजीगर्त के व्यवहार से शुनःशेप के हृदय को गहरी ठेस लगी। वह किसी सहायक की खोज में ही था कि उसकी दृष्टि महर्षि विश्वामित्र पर पड़ी। उनकी करुणामञ्जुल मूर्ति देखकर उसका हृदय पसीज उठा। वह उनकी गोद में जा बैठा। परन्तु अजीगर्त को यह बात बुरी लगी। वह अपने पुत्र को सम्बोधन कर कहने लगा—तुम गोत्र से आंगिरस हो, अजीगर्त के पुत्र हो, स्वयं विद्वान् मन्त्रद्रष्टा ऋषि हो। अपने पैतामह तन्तु को उच्छिन्न मत करो। क्या मेरे रहते तुम्हें विश्वामित्र को अपना पिता वरण करना उचित प्रतीत होता है?

शुनःशेप ने अपने पिता के मीठे वचन सुने। उसके सामने उनके अमृतोपम वचन तथा विषसन्निभ आचरण का विरोध नितान्त प्रत्यक्ष था। वह झल्लाकर बोल उठा—जो नीच कर्म कभी शूद्रों में भी नहीं देखा जाता वही कर्म मेरे वध के लिए खड्गहस्त आप में दीख पड़ता है। आप को अपने पुत्र से बढ़कर तीन सौ गायें अधिक श्रेयस्कर प्रतीत होती हैं।

अजीगर्त—अनुताप से पाप की निष्कृति की जाती है। मैं स्वयं अपने आचरण के कारण सन्तप्त हो रहा हूँ। ये गायें तुम्हारी हैं। तुम ही इन्हें ग्रहण करो।

शुनःशेप—परन्तु घोरतम पाप का प्रतिसन्धान कभी नहीं होता। एकबार पाप के पंक में अपने को फँसाने वाला व्यक्ति अन्य पापों के आचरण से विरत नहीं हो सकता। साधारण व्यक्तियों के बहुबार के भी स्खलन क्षन्तव्य हैं, परन्तु वेद-शास्त्र-सम्पन्न सदाचारी का सकृत भी स्खलन महान् अपराध का उद्गम है। संसार जानता है कि पुत्र के लिए यदि किसी व्यक्ति

के हृदय में थोड़ी सी भी सहानुभूति है, हृदय का एक भी कोना दया से आर्द्र है, तो वह पिता ही है। परन्तु उसी पिता का इतना जघन्य कार्य! धन के लोभ से अपने ही निर्मम हाथों से दयनीय पुत्र का वधोद्योग कभी क्षन्तव्य नहीं हो सकता।

महर्षि विश्वामित्र ने पिता-पुत्र के इस कथनोपकथन को यहीं समाप्त कर देने के विचार से कुछ उत्तेजित होकर अजीगर्त को कर्कश शब्दों में उपालम्भ करना आरम्भ किया—'सचमुच इस विकट पाप का निराकरण प्रायश्चित से कभी नहीं हो सकता; तुम्हारे कोमल हृदय का पता ऋत्विज्जनों को तभी लग गया जब तुम शुनःशेप को भरे समाज में मार डालने के लिए पत्थर पर तलवार पैनी कर रहे थे! पिता का इतना दयाविहीन हृदय! धन की इतनी अधिक लोलुपता!! सामाजिक बन्धन का इतना अवहेलना-सूचक अट्टहास!!! आज से शुनःशेप ने मेरे पुत्रत्व को प्राप्त किया है। अपनी लोलुप दृष्टि इससे हटा लो। इसे पाने की कामना को हृदय से दूर निकाल डालो'।

अजीगर्त का चेहरा मुर्झा गया। उसका उन्नत मस्तक नीचे झुक गया।
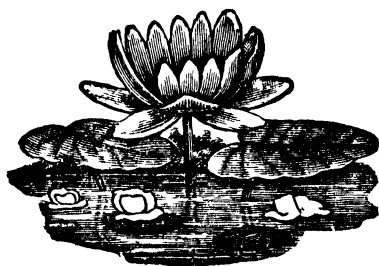
अन्नदेव

१

मेरा नाम उषस्ति है। मेरे पूज्य पितृदेव का नाम 'चक्र' था। इसलिए सब लोग मुझे उषस्ति चाक्रायण के नाम से पुकारते हैं। मैं अपने पिता की एकमात्र सन्तति हूँ। पिताजी वृद्धावस्था में अपनी गोदी में बैठाकर मुझे मेरे जन्म की कहानी सुनाया करते थे। ऋषि-ऋण को अध्यापन के द्वारा और देव-ऋण को यजन के द्वारा उन्होंने चुका दिया था परन्तु पितृ-ऋण से परिशोध का साधन न पाकर वे नितान्त खिन्न थे। बड़ी कठिन साधना की। वे मेरे जन्म को भगवान् की महती अनुकम्पा का परिपक्व फल बतलाते थे। मेरे आते ही उनकी गृहस्थी खूब जम गई—घर में आनन्द का दीपक जल उठा, सुख सम्पत्ति ने उस घर को अपना आवास बनाया। वे बड़े प्रेम से मुझे वेद के मन्त्रों की शिक्षा देने लगे। मैंने बड़े मनोयोग से संहिता का अध्ययन किया—सामगायन में मैंने बड़ी निपुणता प्राप्त की। मेरा कण्ठस्वर स्वभाव से ही मधुर था, तिस पर उसे अधिक मधुर बनाने के लिए मैंने यथेष्ट परिश्रम किया। जब मेरे रक्त कण्ठ से सामगायन की स्वर-लहरी आश्रम में हिलोरें लेने लगती, तब श्रोताओं के हृदय में आनन्द का उत्साह उमड़ पड़ता,

कानों में मधु की धारा बहने लगती। मेरे इस कौशल तथा प्रतिभा को देखकर मेरे माता-पिता का मनोमयूर हर्ष से नाच उठता और आसपास के ऋषिजनों का हृदय कौतुक से विस्मित हो उठता। मैंने ब्राह्मण ग्रन्थों का गाढ अनुशीलन कर कर्मकाण्ड में खूब पाण्डित्य प्राप्त किया। मैंने विद्या की खूब आराधना की। फलतः मेरे हृदय में प्रबोध का उदय हुआ; विनय से तथा श्रद्धा से मेरे मन में गर्व का तनिक भी आभास न था। उपनिषद् के रहस्य मेरे साधना से विशुद्ध हृदय में उसी प्रकार चमकते जिस प्रकार भूतल से अन्धकार को दूर करने वाले चन्द्रमा की किरणें। पिताजी ने 'आटिकी' नाम्नी ब्राह्मण कन्या से मेरा विवाह कर दिया। मैंने अपनी 'पर्षद्' (पाठशाला) स्वतन्त्र रूप से चलाई। मेरी कीर्ति सुनकर देश देशान्तर के छात्र मेरे पास आने लगे। मेरा निवास 'कुरुदेश' में था, परन्तु मेरा यश समस्त सप्तसिन्धव में विस्तृत हो गया। तेजस्वी अध्यापक बनकर मैं अपने को धन्य मानने लगा।

कुरुक्षेत्र की समृद्धि शब्दों में वर्णन नहीं की जा सकती। देश क्या था? सुखसमृद्धि का विशाल आगार था, वैभव का मनोरम निकेतन था, शान्ति का विपुल भाण्डार था। राजा प्रजा का अनुरंजन किया करता था और प्रजावर्ग अपने राजा की तथा उनकी धार्मिकता की प्रशंसा करते तनिक न अघाता था। देश भर में छोटे-बड़े गाँव दूर २ तक फैले थे। हम आर्यों का समाज कृषीवल समाज था, हमारी जीविका का प्रधान साधन कृषिकर्म और पशुपालन था। गोसेवा आर्यों का मुख्य धर्म

था। सवेरा होते ही गायें शाला से गोष्ठ (चरागाह) में चरने के लिए गोपाल की संरक्षकता में भेज दी जाती थीं जहाँ दोपहर से कुछ पहले ही उनका दूध दुहा जाता था जिसे 'संगव दोह' कहा जाता था। सायंकाल वे घर लौटतीं। उस समय अपने दुधमुँहे बछड़ों के लिए गायों का रँभाना इतना श्रवण सुखद प्रतीत होता जितना इन्द्र के बुलाने के लिए ऋषियों के मधुर मन्त्रों का गायन। वैदिक गृहपति की दुहिता अपने कोमल हाथों से गृहस्थों के लिए दूध दूहती थी। तब घरघों की आवाज से वह शाला गूँज उठती थी। कृषिकर्म से इतना अधिक अनाज होता कि भोजन के बाद भी वह बच जाता और बड़े पात्रों में भर कर रखा जाता। नाना प्रकार के शिल्प प्रचलित थे। रूई की पैदावार खूब होती थी जिससे रंग-बिरंगे बेल बूटेदार नयना-भिराम वस्त्र तैयार किये जाते थे। बुनने का काम अधिकतर स्त्रियाँ किया करती थीं। प्रेममयी मातायें अपने ही हाथों से बुने हुए कपड़ों को अपने पुत्रों को पहनाकर अघाती नहीं थीं। रेशम तथा ऊन (ऊर्णा) के बने कपड़ों का पहनना आर्यों के लिए साधारण बात थी। परुष्णी तथा सिन्धु नद का प्रदेश ऊन की पैदावार तथा ऊनी शिल्पियों के लिए सर्वत्र विख्यात था। गान्धार की रोयेंदार भेड़ों का ऊन बड़ा ही पुष्ट, सुन्दर तथा मुलायम होता। सप्तसिन्धव में इसकी खूब प्रसिद्धि थी। दीक्षा के अवसर पर यजमान को तार्प्य वस्त्र (रेशमी कपड़ा) का परिधान नितान्त आवश्यक था। जब आर्य लोग केसरिया रंग में रँगे रेशमी वस्त्र (कौसुम्भ परिधान) को पहन कर समाज में जाते थे, तब वह दृश्य दर्शकों के नेत्रों के लिए एक

अभूतपूर्व मनोरञ्जन की सृष्टि करता था। कमनीय-कलेवरा युवतियाँ सुनहले तार के बने जरी के काम वाली रंगीन साड़ियाँ पहन कर जब बाहर निकलतीं, तब जान पड़ता पुराणी युवति उषायें अपनी चिरनवीन प्रभा से लोगों के नेत्रों को चकाचौंध कर रही हों।

२

प्रकृति नटी को पट परिवर्तन करते देर नहीं लगती। आनन्द में अपने को भूलने वाले प्राणी को इसकी सुध तनिक भी नहीं रहती, उधर उस मायापति की अलौकिक माया उसके निमित्त नानाप्रकार की विपदाओं का जाल बुना करती है। हमारे देश की दशा अकस्मात् बदल गई। सामूहिक विपत्ति टिड्डियों का रूप धर कर कुरुदेश पर फट पड़ी। इन संहारकारी जन्तुओं का बड़ा भारी दल न जाने किस देश से आ पहुँचा और हमारे देश के उन लहराते हुए खेतों को सदा के लिए चर डाला। हरियाली की कहीं नाम निशान न था। फसल देखते-देखते मारी गई। हरे घास का एक छोटा पत्ता भी हमारे नेत्रों को सरस बनाने के लिए कहीं नहीं दीख पड़ता था। कुरुदेश की प्रजा अन्न के कण बटोरने के लिए, धधकती हुई उदर की ज्वाला को शान्त करने के लिए, स्वदेश को छोड़ कर परदेश की धूल फाँकने लगी; घर से नाता तोड़कर अपने सगे सम्बन्धियों से सदा के लिए बिदाई लेकर इधर से उधर मारी मारी फिरती और अपने भाग्य को, अपने अनजाने प्राचीन कुकर्म को कोसती। देखते देखते कुरुदेश में आनन्द का दीपक बुझ गया;

पूरे देश में दरिद्रता अपना विराट् अट्टहास करती विचरण करती दीख पड़ने लगी।

ऐसी विषम परिस्थिति में अपने प्राणों को बचाने के लिए मैंने अपना प्यारा गाँव छोड़ दिया। उस अवसर को याद कर आज भी मेरे रोंगटे खड़े हो जाते हैं, जब मैंने अपनी बाल लीलाओं के साक्षीभूत उस गाँव से अपनी बिदाई ली थी। अपनी धर्मपत्नी के साथ मैंने जब अपने घर के ऊपर अन्तिम दृष्टि डाली तब हमारे नेत्रों में विषाद तथा विस्मय के आँसू झलकने लगे—विषाद था अपने जीवन के इस विषम दुःखमय काण्ड के ऊपर और विस्मय था समग्र देश के ऊपर आने वाली विपदा के आकस्मिक आक्रमण पर तथा उस जगत्सूत्रधार के इस नवीनतम पट परिवर्तन पर। हृदय हमारा बैठ गया। मेरा हृदय खिन्न हो गया। अपनी संगिनी के साथ मैं इभ्यग्राम (महावतों के एक गाँव में) पहुँचा जिसकी दशा हमारे गाँव से कुछ अच्छी थी। मैंने इधर उधर दृष्टि डाल कर देखा कि एक महावत उड़द खा रहा था। मुझे भोजन किये अनेक दिन हो गये थे। कुछ दिनों तक तो मैं अपनी उदर की ज्वाला सहने का उद्योग करता रहा, परन्तु कब तक सहता? हताश होकर उदर-हुताशन को यथा कथञ्चित् शान्त करने का उपाय सोचने लगा।

अग्नि की ज्वाला भयङ्कर होती है, परन्तु उदराग्नि की ज्वाला कितनी विषम, कितनी भयानक होती है, इसका अनुभव भुक्तभोगी ही कर सकता है। यदि आग दूर पर लगी हो, तो उसके बचाव का उपाय भी सोचा जाय, परन्तु जब अपने ही

शरीर के अभ्यन्तर में लगी हो, तो अपने को कैसे बचाया जाय! मैंने गिडगिडाकर उस महावत से कहा—'भाई, मैं तुम्हारा ही एक सहवासी प्राणी हूँ। मुझे भी थोड़ा सा उड़द दे दो जिससे मैं अपनी क्षुधा को शान्त करूँ'। 'परन्तु मेरे पास तो इतने ही उड़द हैं। थोड़ा मैं खा चुका हूँ और बाकी मेरे जूठे हैं जिन्हें आप जैसे विद्वान् को देते मैं मर्यादा के भंग होने के भावी भय से काँप रहा हूँ। मैं अपने हाथों विद्वान् की अवहेलना न होने दूँगा।"—महावत ने विनयभरे शब्दों में कहा।

"डरो मत, बाकी बचे हुए उड़दों को मुझे दे डालो। जानते नहीं हो यही आपद् धर्म है। शरीर ही धर्म का प्रथम साधन है। उसे बचा लेना प्रत्येक प्राणी का प्रधान कर्तव्य है। ऐसी सामूहिक आपत्ति के समय में जब दाने के लाले पड़े हैं, अपना भी वीराना बना हुआ है, तब इन प्रिय प्राणों को जिस किसी भी उपाय से रक्षा करना प्रत्येक प्राणी का पवित्र शास्त्रानुमोदित कर्तव्य है। शास्त्र के उपदेष्टा ऋषि लोग भी मानवी दुर्बलताओं तथा विपदाओं से भली भाँति परिचित थे। अपने सहानुभूति-पूर्ण हृदय से उन्होंने हमारे कल्याण के लिए सुख में अथवा दुःख में सुन्दर उपाय बतला दिये हैं। घोर विपत्ति के समय केवल प्राण-धारण के निमित्त जूठे अन्न का खाना कथमपि धर्म-विरुद्ध नहीं है"—अधिकार-भरी वाणी में मैंने महावत को समझाया।

मेरी यह व्याख्या सुन कर महावत का मन निश्चिन्त हुआ और उसने बड़े आग्रह से उड़द के अवशिष्ट भाग को मेरे सामने रख दिया। क्षुधा के कारण मेरे पेट में भयानक

ज्वाला तीव्र गति से जल रही थी। इन्हीं जूठे उड़दों को मैंने खाया। खाते ही एक विचित्र तृप्ति का बोध मुझे हुआ। जान पड़ा मेरे प्रत्येक निसहाय और अलस अंग में किसी ने जीवनी शक्ति फूँक दी है। माथे का चक्कर आना कम हुआ। चित्त आश्वस्त हुआ। पर मुझे आश्चर्य हुआ जब महावत ने अपने जूठे जल को मेरे पीने के लिए सामने रखा। मैंने उत्तर दिया—भाई, मैं यह जल नहीं पी सकता। यह जूठा है।

महावत—विद्वन्, आपके वचन मुझे एक विषम पहेली के समान प्रतीत होते हैं। अभी तो मेरे जूठे उड़दों के खाने में आपने किसी प्रकार की आनाकानी नहीं की और अब मेरे जूठे जल पीने में इतनी सतर्कता दिखला रहे हैं।

मैं—हाँ, दोनों में महान् अन्तर है। जरा विचारो तो सही। केवल प्राणरक्षा के लिए ही निषिद्ध अन्न का ग्रहण अग्राह्य नहीं है। बिना उड़द के खाये मैं अपने प्राणों की रक्षा नहीं कर सकता था। मैं जीवन के उस सीमान्त प्रदेश में घूम रहा था जो मरण से अत्यन्त सन्निकट था। उड़दों के भोजन ने मुझे जिलाया। अतः आपद्धर्म समझ कर ही मैंने उच्छिष्ट कल्माषों को खाया है, परन्तु इन्द्र की कृपा से जल की कमी देश में नहीं है। मैं स्वच्छ शुद्ध जल अन्यत्र पा सकता हूँ। अतः उच्छिष्ट जल पीना मेरा स्वेच्छाचार समझा जायगा। इस कुकृत्य को मैं कर नहीं सकता।

आपद्धर्म की इस विशद व्याख्या को सुन कर महावत का चित्त नितान्त प्रसन्न हुआ।

मैंने अपनी धर्मपत्नी की ओर दृष्टि डाली। छाया के समान

वह पतिव्रता मेरा अनुसरण करती जाती थी; दुःखों को झेलती; परन्तु किसी प्रकार का उपालम्भ अपने मुख पर नहीं लाती थी। मैंने कहा—कल्याणिनि, इन उड़दों को खाकर अपनी भूख बुझा ले। परन्तु उसे पहले ही कहीं से अन्न मिल चुका था। उसने भोजन नहीं किया, किसी अगले दिन की आवश्यकता की पूर्ति के लिए उसने उन बचे हुए उड़दों को अपनी आँचर में बाँध रखा।

रात बीती। सबेरा हुआ। वायु किसी दरिद्र के निःश्वास के समान ठंढी बहने लगी। मुझे छूती, तो जान पड़ता कि शरीर पर मनों बर्फ की राशि उड़ेलती जाती हो। उठकर देखा—सविता प्राचीक्षितिज पर उदय ले रहा था, पर उसमें तेज न था। वह तो किसी आर्त के मुखमण्डल के समान नितान्त प्रभादरिद्र प्रतीत हो रहा था। प्रकृति का मुख उदासी से ढका हुआ था। न कहीं प्रसन्नता खिल रही थी और न कहीं हर्ष विकसित हो रहा था। चारों ओर बीहड़ सूनसान! दरिद्रता का भयानक नर्तन!! श्मशान का प्रलयंकारी नग्न चित्र!!! सोचने लगा—महाप्रलय की वह भयंकरी बेला क्या सचमुच आज ही आ गई है? भगवान् भूतनाथ विश्व का संहार कर विकट अट्टहास करते हुए क्या इसी प्रकार मानवों की दुर्बलता और दयनीयता पर हँसते होंगे?

मैं इसी भावप्रवाह में बहा आ रहा था। सहसा धारा रुक गई। भूख ने मुझे बेचैन कर डाला। मैंने अपनी सहधर्मिणी से कहा—यदि मैं अपने पोषण का आज उपाय कर पाऊँ, तो मैं अपने परिवार के भरण का उपाय कर सकूँगा और भविष्य को

चिन्ता से भी मुक्त हो जाऊँगा। सुना है कि इस 'इभ्य ग्राम' के पास ही कुरुनरेश प्रजा के कल्याण के लिए यज्ञ कर रहे हैं। उस यज्ञ में मैं जाकर ऋत्विज् कर्म का भलीभाँति निर्वाह कर सकता हूँ। तब राजा की दक्षिणा मुझे अवश्य निश्चिन्त बना देगी। आटकी ने कल के बचे हुए उड़दों को निकाल कर मेरे भोजन के लिए दिया। खाते ही अलसता भाग खड़ी हुई। पूरी चेतनता से मैं यज्ञ में भाग लेने की तैयारी करने लगा।

उच्छिष्ट अन्न ने भी प्राणी के भीतर चेतनता का संचार कर दिया।

३

भौतिक उपायों से विपत्ति के न टलने पर आधिदैविक उपायों का आश्रय नितरां श्रेयस्कर होता है। विपत्ति छोटी न थी, पूरे कुरुप्रदेश पर यह आकालिक वज्रपात ! विपत् के पहाड़ का अकस्मात् टूट पड़ना !!! भौतिक उपाय कथमपि सफल न हुए। कुरुराज ने विचारा—आधिदैविक उपायों का सहारा अवश्य लेना चाहिए। 'राजा कालस्य कारणम्।' इस महती विपत्ति का निदान मेरे ही किसी अज्ञात पापकर्म के भीतर निहित जान पड़ता है। पर्जन्यदेव को सन्तुष्ट कर वृष्टि की अभिलाषा से राजा ने विराट यज्ञ का समारोह उपस्थित किया। वेदी बनाई गई। श्रौत अग्नि की विधिवत् स्थापना की गई। बड़े धूमधाम से यज्ञ होने लगा। पर्जन्यदेव की स्तुति वायुमण्डल को चीरती हुई आकाश में ऊपर उठने लगी। होमधूम यज्ञ वेदी से निकल कर आकाश में वायुमण्डल के साथ अठखेलियाँ करने लगा।

पर्जन्य की स्तुति में ऋत्विज्जनों ने मञ्जुल कण्ठ से मन्त्र कहना आरम्भ किया:—

हे मरुत् लोग, आकाश से हमें वृष्टि दीजिए। आशुगामी जल-वर्षा की धाराओं को चारों ओर फैलाइए। आकाश में आप लोग खूब गर्जन करें। जल बरसाते हुए आप लोग हमारी ओर आवें। आप हमारे प्राणदाता पिता हैं[1]।

यज्ञ मण्डप उल्लास से भर गया और श्रोताओं को विश्वास हो चला कि इन्द्रराज की अनुकम्पा से अकाल के दूर होते देर न लगेगी। मैं भी यज्ञ में उपस्थित होकर कर्मकाण्ड का निरीक्षण करने लगा। मैं वेद का निष्णात पण्डित था ही। मेरी सूक्ष्म दृष्टि में अनेक स्थानों पर त्रुटि जान पड़ी। यदि मैं चुप रह जाता, तो महान् अनर्थ की सम्भावना थी। यज्ञ का विधिवत् सम्पादन एक कठिन, दुःसाध्य कार्य है। मन्त्रों के उच्चारण करते समय एक साधारण स्वर का परिवर्तन घोर दुःफल फल सकता है। वृत्र ने अपने कल्याण के लिये तथा इन्द्र के मारने के लिए बड़े समारोह से यज्ञ किया था, परन्तु स्वर के अपराध के कारण यज्ञ का फल एकदम उलटा हुआ—इन्द्र के हाथों वृत्र का महान् पराभव हुआ। स्वरापराध के समान अर्थ हीनता भी अभीष्ट फल की उत्पत्ति में बाधा पहुँचाती है। मैंने देखा कुछ ऋत्विज्जन

१—दिवो नो वृष्टिं मरुतो ररीध्वं
प्र पिन्वत वृष्णोः अश्वस्य धाराः।
अर्वाङेतेन स्तनयित्नुने-
ह्यपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः॥ ऋ० वे० ५।८३।६

स्वयं उन देवताओं के स्वरूप से अनभिज्ञ थे जिनकी वे स्तुति कर रहे थे।

आस्ताव (स्तुति-स्थान) में खड़े होकर मैंने प्रस्तोता से कहा—हे प्रस्तोता, क्या आप उस देवता के स्वरूप को जानते हैं जिसकी स्तुति में आप सामगायन कर रहे हैं। स्मरण रखिए, यदि उस अधिष्ठान देवता को बिना जाने आप प्रस्ताव करेंगे, तो आपका मस्तक छिन्न होकर भूतल पर लोटने लगेगा। उद्गाता से भी मैंने इसी प्रकार प्रश्न किया और अनजाने उद्गीथ गाने पर मस्तक के गिर पड़ने को बात कही। प्रतिहर्ता से भी मेरा प्रश्न इसी प्रकार था—हे प्रतिहर्ता, क्या तुम देवता को जानते हो, जो इस प्रतिहार से सम्बद्ध है। बिना जाने यज्ञ करने से जनता के हित की ही हानि न होगी, प्रत्युत आप का ही सिर छिन्न भिन्न होकर धराशायी बन जायगा।

मेरे प्रश्नों के श्रवणमात्र से ऋत्विज्जन अवाक् हो गए। उपस्थित जनमण्डली ने आश्चर्य से देखा कि यज्ञ मण्डप में स्तब्धता छा गई है। सब लोग एकदम चुप हो गए हैं।

४

यजमान ने देखा अनर्थ होना चाहता है। यज्ञ के अकस्मात् बन्द हो जाने से उसकी अभिलाषा असफल बनी रह जायगी। आगे बढ़कर उसने आगन्तुक का परिचय पूछा—भगवन्, आप कौन हैं? आपकी यह विद्वत्ता, प्रतिभा-भासुर मुख-मण्डल देख कर मुझे प्रतीत हो रहा है कि आप कोई महान् ब्रह्मवादी महर्षि हैं।

मैंने कहा—'मैं उषस्ति चाक्रायण हूँ। अकाल से पीड़ित होकर इधर-उधर भटकता हुआ आपके पास आया हूँ।'

'अहो ! क्या आप ही ब्रह्मवादी उषस्ति चाक्रायण हैं; आपको ऋत्विज् बनाने के लिए मैंने स्थान स्थान पर अपने आदमी भेजे, परन्तु इस विषम परिस्थिति में जब मैंने आपको नहीं पाया, तब मैंने इन ऋत्विजों का वरण किया। आपके इस स्वतः पधारने को मैं यज्ञनारायण की असीम अनुकम्पा समझता हूँ। इस यज्ञ में आप ऋत्विज् कर्म का निर्वाह करें जिससे इसकी समाप्ति मंगलमय हो'—राजा ने विनयभरे शब्दों में कहा।

मैंने ऋत्विज् बनने की स्वीकृति दे दी परन्तु इस प्रतिज्ञा पर कि न तो ये ऋत्विग् लोग हटाये जाँय और न मुझे आदर दिखलाने के लिए अधिक दक्षिणा ही दी जाय। मेरे उदारभाव को देख कर राजा को आश्चर्य हुआ। प्रसन्न-वदन होकर मैंने देवताओं का रहस्य बतलाना आरम्भ किया—हे प्रस्तोस्ता, आपके प्रस्ताव कर्म से सम्बद्ध देवता को क्या आप नहीं जानते ? वह देवता प्राण ही है। समस्त प्राणी प्रलयकाल में प्राण में ही लीन होते हैं और सृष्टि काल में प्राण से उत्पन्न होते हैं। प्राण साक्षात् परब्रह्म रूप है। प्रस्ताव से सम्बद्ध इस प्राणतत्त्व को पहचानिए, तभी आपकी उपासना पूरी तथा सफल हो सकती है।

उद्गाता ने पास जाकर बड़ी नम्रता से पूछा—भगवन् ! उद्गीथ के साथ सम्बद्ध वह कौन देवता है जिसके विषय में आपने मुझ से प्रश्न किया था।

मैंने तुरन्त उत्तर दिया—आदित्य। सूर्य के बिना रात्रि में

प्राणियों के ऊपर विचित्र व्यामोह पड़ा रहता है। विश्व अन्धकार के गाढ़ पटल के भीतर अपने को छिपा लेता है। उद्यम का कहीं नाम नहीं रहता। जड़ता प्राणियों के शरीर पर और मन पर अपना अधिकार जमा लेती है। प्राची क्षितिज पर आदित्य का सुवर्णमय मण्डल ज्यों ही चमकने लगता है, जगत् में जीवनी शक्ति का संचार हो जाता है। आदित्य का उदय विश्व की सृष्टि का एक मनोरम प्रतीक है। सूर्य के आकाश में उठते ही प्राणी लोग रमणीय स्तुतियों से उनका स्वागत करते हैं। ऊर्ध्वस्थानीय होने से आदित्य उद्गीथ के साथ नितरां सम्बद्ध है। इस तत्त्व को बिना जाने उद्गीथगान महान् अनर्थकारी सिद्ध होगा।

उद्गाता आनन्द से खिल उठे।

अब प्रतिहर्ता की बारी आई। उन्होंने भी अपने प्रतिहार कर्म से सम्बद्ध देवता के विषय में अपनी जिज्ञासा प्रकट की।

मैंने प्रसन्न मन से उत्तर देना आरम्भ किया—वह देवता अन्न है। अन्न की महिमा यथार्थ रूप में शब्दों के द्वारा प्रकट नहीं की जा सकती। शरीर धारण करने का प्रधान साधन अन्न ही है। अन्न के अभाव में कुरुदेश की विषमस्थिति से आप कथमपि अपरिचित नहीं हैं। अन्न साक्षात् देवस्वरूप है। उसके भोजन करने पर ही हमारे शरीर में वह विचित्र शक्ति उत्पन्न होती है जिससे मनुष्य स्वार्थ तथा परमार्थ दोनों का अर्जन भलीभाँति कर सकता है। भगवान् का प्रत्येक प्राणी से यही आदेश है कि वह अन्न के उपार्जन से कथमपि पराङ्मुख न हो। अन्न का अर्जन एक नितान्त पवित्रकार्य है। अन्न ग्रहण करते समय यह भावना

करनी चाहिए कि मैं एक दैवी शक्ति से अपने को अनुप्राणित कर रहा हूँ। प्रतिहार से सम्बन्ध देवता यही अन्न है। इस तत्त्व के अवगम होने पर ही आप का कार्य सफल हो सकता है।

ऋत्विजों ने महर्षि उषस्ति की अध्यक्षता में उस यज्ञ को चारुरूप से सम्पन्न किया। यज्ञ की समाप्ति होते ही पर्जन्यदेव की महती कृपा हुई। मूसलधार वृष्टि ने कुरुदेश को आप्यायित कर दिया। चारों ओर खेतों में हरियाली लहराने लगी। अन्न की प्रचुरता से प्राणियों के हृदय खिल उठे। अकाल की विषाद-मयी रेखा कुरुदेश से सदा के लिए मिट गई। तब आर्यजनता ने विस्मितनेत्रों से देखा कि यज्ञ में दी गई आहुति विश्व के सामूहिक मंगलसाधन में कितनी समर्थ होती है।

सत्याग्रह

१

सत्याग्रह एक महान् व्रत है। सत्य पर आग्रह रखने वाला व्यक्ति अपने सामने विघ्न के पहाड़ों के आ जाने पर भी अपना प्रतिज्ञा से नहीं टलता। कुछ लोग उसके आग्रह को दुराग्रह मानकर उसे अपने विपुल तिरस्कार का पात्र भले बनायें, परन्तु अन्त में विजयश्री उसे वरण करती है, सफलता क्रीतदासी के समान उसकी अनुगामिनी बनती है। विरोधियों का भी मस्तक उसके सामने झुक जाता है। परन्तु फल के लिए सन्तोष और धैर्य का धारण करना आवश्यक होता है। बालक नचिकेता का आग्रह सच्चा था, सत्य के पालन में उसकी निष्ठा दृढ़ थी, परन्तु उसे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि उसका यही आचरण उसके पितृदेव वाजश्रवा के हृदय में कोपानल के धधकने का कारण बन गया।

उस दिन उस दीर्घकालीन महान् सत्र की समाप्ति थी। होमकुण्ड में जलने वाले अग्निदेव की ज्वाला आज शान्त थी। उस धूम के स्तूप का भी आज दर्शन न था जो प्रतिदिन आकाश में उठ कर पवन के साथ ललित खेल करता हुआ दिखलाई पड़ता था। उस पावन तपोवन के अरुणाभ पल्लवों में धूम से

मलिन होने पर भी स्निग्ध शोभा छाई हुई थी। होम का गन्ध चारों ओर फैल कर पावनता का संचार कर रहा था। महर्षि वाजश्रवा का आत्मा आज आनन्द से गद्गद हो रहा था। आज उनके दीर्घकालव्यापी अध्यवसाय की मङ्गलमयी समाप्ति थी। वर्षों की कामना अवसान पर पहुँच रही थी। आज उनके 'विश्वजित्' यज्ञ का अन्त था। महर्षि की सम्पत्ति कुछ विशेष न थी, परन्तु जो कुछ उनके पास था, जिस सामग्री को बूँद-बूँद कर वर्षों से उन्होंने बटोर रखा था, उसे ऋत्विजों को देते समय उनके नेत्रों में आनन्द के आँसू झलक रहे थे।

गाय ही यज्ञ की प्रधान दक्षिणा है। यज्ञ में भाग लेनेवाले ऋत्विजों का सत्कार गोदान के द्वारा निष्पन्न किया जाता है। परन्तु गायें होनी चाहिएँ समर्थ, सुन्दर और सबल। दुबली-पतली बूढ़ी गायों का उपयोग दक्षिणा के रूप में कभी न होना चाहिए, क्योंकि ऐसी गायों का दाता यजमान ऐसे लोकों में जाता है जहाँ न तो प्रकाश नेत्रों को विकसित करता है और न आनन्द हृदय को। परन्तु इस तथ्य की उपेक्षा कर वाजश्रवा ने अपनी उन दीन-हीन गायों को दक्षिणा के रूप में दे डाला जिनकी रक्षा करना उनका कर्तव्य था। उनकी गायें थी एक दम जर्जर। बुढ़ापे के कारण उनमें हड्डियों का केवल एक दुर्बल ढाँचा बाकी था जो दर्शकों के हृदय में सहानुभूति का सोता बहाने में समर्थ था। उन्होंने पानी का अन्तिम घूँट पी लिया था और दूध का अन्तिम बूँद दे डाला था। महर्षि ने सोचा अन्ततः ये मेरी ही सम्पत्ति हैं। इन्हें दे डालने का मुझे पूरा अधिकार है। इन्हें ऋत्विजों को देकर मैं इनके रक्षाभार से

किसी प्रकार मुक्त हो जाऊँ। अपने विचार को कार्यरूप में परिणत करते समय न तो संकोच ने उन्हें दबाया और न शील ने।

गायों को ऋत्विजों को दक्षिणा देकर उन्होंने छुट्टी ली। परन्तु इन मूक पशुओं की विचित्र दशा थी। जाते समय इन्होंने अपने करुण हुँकार से उस तपोवन से अन्तिम बिदाई ली और अपने नये घरों के लिए कथमपि प्रस्थान किया। इस घटना से आश्रम में सर्वत्र निःस्तब्धता छा गई। तपोवन की लताओं ने सूखे पीले पत्तों को गिराकर सहानुभूति के आँसू बरसाये। मृगी घास का चरना छोड़ कर उसी दिशा में विषाद-भरी दृष्टि से बहुत देर तक देखती रहीं। मयूरियों ने अपना उन्मत्त नृत्य बन्द कर दिया।

२

तपोवन सर्वत्र नीरव था। सब लोग हृदय मसोसकर चुपके चुपके कहते कि महर्षि ने अच्छा नहीं किया। इन गरीब पशुओं को इस वृद्धावस्था में अपने संरक्षण से दूर हटा कर उन्होंने अच्छा नहीं किया। परन्तु किसी को साहस न होता था कि हृदय की बात मुख पर लावे; प्रतिवाद को अभिव्यक्त करने का साहस किसी में न था। तपस्वी के तपोबल को सब जानते थे। उनके हृदय को कौन दुखावे? और कौन अपने को उनके शाप का भाजन बनावे? परन्तु आश्रम की मर्मान्तिक गूढ़ वेदना ने ऋषि के बालक पुत्र नचिकेता को अपनी अभिव्यक्ति का साधन बनाया। गूढ़ प्रतिवाद प्रकट रूप में आया। छिपा हुआ क्लेश अधिक देर तक अपने को प्रकृति के हृदय में छिपाये न रख

सका। नचिकेता की वाणी में आखिर वह बाहर आकर ही शान्त हुआ।

'पिता जी, आप मुझे किसे देंगे?' नचिकेता ने तीव्र शब्दों में पिता से पूछा, परन्तु उन्होंने बालकपुत्र के इस प्रश्न पर कान नहीं दिया। पुत्र ने दूसरी बार उसी प्रश्न को दुहराया, फिर भी उत्तर न मिला। तीसरी बात पूछते ही ऋषि ने कहा—मैं तुम्हारे इस प्रश्न को अवसरहीन तथा अनुचित समझता हूँ। तुम्हारे प्रश्न करने का वास्तव तात्पर्य ही क्या है? पूछने का यह कौन सा अवसर है?

"मेरा अभिप्राय इन निरीह निरिन्द्रिय निःशक्त पशुओं के दान से है। क्या इतनी वृद्ध गायों को अपने आश्रम से दूर करना उचित था?"

"तुम बच्चे ठहरे इस विषय से एक दम अबोध। मैंने सर्वस्व-दक्षिण याग का विधिवत् अनुष्ठान किया था। बिना दक्षिणा के याग अधूरा ही रह जाता है। प्रतिज्ञा के अनुसार मैंने अपनी समग्र सम्पत्ति ऋत्विज्जनों को दे डाली है। गायें भी तो हमारी सम्पत्ति ठहरीं।"

"हाँ, ये आपकी सम्पत्ति अवश्य हैं परन्तु इस निरीह दशा में ये रक्षा के पात्र हैं, दान के योग्य नहीं। प्रस्थान के समय इनकी वह करुण हुँकार अब भी मेरे कानों में गूँज रही है।"—नचिकेता ने कुछ गरम शब्दों में पिता से कहा।

"मैंने तो अपने कर्तव्य का निर्वाह किया है।"

"नहीं, बिल्कुल नहीं। यज्ञ में देवताओं को अपनी सबसे प्यारी, सबसे अधिक सुन्दर, सबसे अधिक मूल्यवाली वस्तु

अर्पण करनी चाहिए। ऋत्विजों को सबल तथा समर्थ गायें देनी चाहिए। मैं आपका प्यारा पुत्र हूँ। बतलाइये तो सही आप मुझे किसे देंगे ?

पिता पुत्र के इन विचित्र शब्दों को सुनकर एकदम निरुत्तर था।

पुत्र ने दूसरी बार पूछा—आप मुझे किसे देंगे ? पिता एकदम चुप !

पुत्र ने तीसरी बार फिर उसी प्रश्न को दुहराया। अब पिता का क्रोध अपनी सीमा को पार कर गया। बालक का इतना हठ, इतना अधिक दुराग्रह, अनधिकार विषय में टाँग अड़ाना पिता के लिए असह्य हो उठा। झल्लाकर तीव्र शब्दों में वे बोल उठे—मैं तुम्हें यमराज को दूँगा।

साधारण प्रश्न के उत्तर में यह अनभ्र वज्रपात ! सीधीसी जिज्ञासा का इतना विषमय परिणाम !!! बालक इस विकट उत्तर के लिए तैयार न था। वह था विचारशील। उसने अपने पूर्व जीवन की घटनाओं पर एक सरसरी दृष्टि डाली, परन्तु उसे अपने अल्पकालीन जीवन में कहीं भी त्रुटि न प्रतीत हुई। उसने अपने गुरु और पिता की आज्ञा के मानने में जाने या अनजाने कभी भूल न की थी। सोचने लगा—बहुत से शिष्यों में मैं आगे रहता हूँ और बहुतों में मैं मध्यम वृत्ति से रहता हूँ। अधम वृत्ति से मैं कभी नहीं रहता। फिर उसे यमराज के घर भेजने में पिता का कौन-सा अभिप्राय है ? एक दिन तो मरना निश्चित है। इस जगत् के प्राणी उस शस्य के समान हैं जो कालक्रम से पकता है, काटा जाता है और फिर पनपता है। प्राणी का शरीर धारण

करने पर यम से कौन भय ? कभी न कभी उस द्वार को खट-खटाना ही है। तब आज ही क्यों न चलूँ ? पिता जी की आज्ञा का भरपूर पालन होगा !

उसने पिता के अभिशाप को प्रसाद समझा। विधि विडम्बना के सामने उसने शिर झुकाया और नाना विचारों की श्रृंखला को अपने हृदय के भीतर छिपाकर वह चल पड़ा यमराज के द्वार पर अपनी टेक निभाने के लिए।

ऋषि बालक की तेजस्विता अपने को प्रकाश में लाने के लिए चञ्चल हो चली।

३

अहा ! क्या यही सञ्जीवनी नगरी है जहाँ भगवान् यम अपनी सूक्ष्म दृष्टि से प्राणिमात्र के पुण्यापुण्य का विवेचन कर उसे स्वर्ग लोक में भेजकर सन्तत सुख भोगने का अधिकारी बनाते हैं अथवा नरक में भेजकर दुःख के गाढ़ अन्धकार में उसे डुबाये रहते हैं। यम के उपकारों को हम मानव कभी नहीं भुला सकते। वे प्रथम मानव हैं जिन्होंने इस भूतल से प्रयाण कर उस परलोक के जाने वाले मार्ग का पता लगाया और मानवों के कल्याण के लिए इस सुगम मार्ग के रहस्य को हमें बतलाया। उनके लोक तक जाने में एक बड़ी विचित्र नदी को पार करना पड़ता है। इस 'वैतरणी' के पास ही एक चौड़ा पुल है जिसकी रक्षा दो विशालकाय भयानक कुत्ते किया करते हैं—इनमें एक तो काले रंग का है और दूसरे का रंग बिल्कुल चित्र विचित्र है। पुण्यात्माओं को इनसे किसी प्रकार का क्लेश नहीं पहुँचता, परन्तु पापियों के आत्माएँ इनके भय से

सदा संकुचित बनकर चला करते हैं। एक सुन्दर वृक्ष के नीचे राजा यम इस कर्मभूमि में रहकर यज्ञयागादिकों के द्वारा पुण्य सम्पादन करने वाले जीवों के साथ आनन्द से मग्न रहा करते हैं। प्राणिमात्र के कर्मों के देखने की उनकी विलक्षण शक्ति है। वे अध्यात्मज्ञान के पारगामी हैं।

एक झपकी में नचिकेता ने अपने को यमलोक में पाया। विशालकाय प्रासाद देखकर वे चकित हो उठे। उस प्रासाद में एक सहस्र दरवाजे थे। काञ्चन के शिखरों के ऊपर रंग विरंगी पताकायें महल की शोभा को दुगुनी-चौगुनी बढ़ा रही थीं। बाल ब्रह्मचारी की भव्य मूर्ति देखकर द्वारपालों के आश्चर्य का ठिकाना न था—स्निग्ध श्यामल शरीर, माथे पर कृष्ण जटाजूट, ललाट पर श्वेतभस्म का मनोरम त्रिपुण्ड, हाथ में पलाश दण्ड। आगे बढ़कर उन लोगों ने अभ्यागत को प्रणाम किया। परन्तु नचिकेता यमराज के अतिथि थे, पिता ने उन्हें यम के ही पास भेजा था, बिना उनसे भेंट किये वे आतिथ्य ग्रहण के लिए उद्यत न हुए। यमराज वहाँ उपस्थित न थे; एक एक करके तीन दिन बीत गए, परन्तु सत्यनिष्ठ ऋषिबालक उनकी प्रतीक्षा में ज्यों का त्यों खड़ा रहा।

चौथे दिन प्राची क्षितिज पर सूर्यबिम्ब के आगमन के साथ ही यमराज का भी आगमन अपनी नगरी में हुआ। अपने द्वार पर नवीन अतिथि के बाल्यभाव को देखकर वे उतने ही चकित हुए जितना उसकी निर्भीकता से। आज इस अनाहूत अतिथि के आगमन में कौन सा गूढ़ रहस्य छिपा हुआ है? किसी अतिथि के स्वागत करने का यही पहला अवसर था। यमपुरी

में अतिथि का आगमन ! संयमनोपुरी में बिना बुलाये किसी का पदार्पण विशेष कौतुकावह था। दूतों के द्वारा बुलाये जाने पर भी प्राणी अपने भाग को कोसता हुआ भय से सिकुड़ा हुआ दबे पाँव यमपुरी में आने का साहस करता है, परन्तु आज का अनोखा अतिथि ब्रह्मतेज से चमक रहा था और निर्भीकता से इधर से उधर टहल रहा था। महाराज यम के सामने मन्त्रियों ने अपनी विषम स्थिति कह सुनाई। बालक अतिथि का यमराज से मिलने तथा उन्हीं के हाथों से आतिथ्य ग्रहण के दुराग्रह ने उनकी स्थिति को विषम बनाया था।

यम को अपनी अनुपस्थिति पर बड़ा खेद उत्पन्न हुआ। अतिथि सत्कार बन्धु-भाव का प्रथम निदर्शन है। मानवमात्र परस्पर भाई-भाई हैं। दूसरे के दुःख से दुःखी होना और सुख से सुखी होना उसका सहज स्वभाव है। आतिथ्य मानवों को एक सूत्र में बाँधने की सुवर्ण शृंखला है। भारतीय संस्कृति का तो यह प्रथम महामन्त्र ठहरा। अतिथि किसी के द्वार पर किस आशा से, किस अभिलाषा को अपने हृदय में बटोर कर आता है, परन्तु यदि हम उसके सत्कार करने में चूकते हैं, तो हम मानवता की सच्ची परीक्षा में चूक जाते हैं। बालक अतिथि की इस अवहेलना ने यमराज को अस्त व्यस्त बना डाला।

× × × ×

"ब्रह्मचारिन्, इस असमय में आपने इस लोक में आने का क्लेश क्यों उठाया है?"—यमराज ने खेदभरे शब्दों में नचिकेता से पूछा।

"प्रभो ! पिता की आज्ञा !"

"आप के इस आज्ञापालन व्रत से मैं नितान्त प्रसन्न हूँ। आपने अपना टेक खूब निभाया, परन्तु मैं तो अपने अतिथि-सेवा व्रत को निभा न सका। मैं स्वयं अनुपस्थित था और उपस्थित होकर भी मेरे मन्त्री लोग आपके आतिथ्य करने में चूक गए हैं।"

"च्युति मानवों के समान देवताओं में भी सुलभ है। कुछ लोग मनुष्यों पर ही भूल-चूक करने का दोष लगाया करते हैं, परन्तु असावधानता का राज्य बड़ा विस्तृत ठहरा। वह तो देवलोक को भी अछूता नहीं छोड़ता"—नचिकेता ने बड़ी निर्भीकता के साथ उत्तर दिया। बालक की एक तो इतनी छोटी उम्र, इतना अदम्य उत्साह, पिता की कठिन आज्ञा के पालन करने में इतनी दृढ़ता, तिस पर इतनी निर्भीकता। यमराज अत्यन्त प्रसन्न होकर बोले कि तुमने तीन दिनों तक मेरे आगमन की प्रतीक्षा की है; तीन दिवसों तक तुम्हारे आतिथ्य में हमारे पक्ष से अक्षम्य विलम्ब हुआ है। अतः कोई भी तीन वर माँग लो। मैं अभी उन्हें देने के लिए तैयार हूँ।

नचिकेता के हृदय में इस व्यापार से कौतुक तथा हर्ष दोनों भावों का एक साथ उदय हुआ—कौतुक यमराज के इस प्रस्ताव पर और हर्ष अध्यात्म-विषयक सन्देहों के निराकरण के अनुपम अवसर पाने पर। इन भावों को छिपाकर वह मन्द स्वर में कहने लगा—यदि आप सचमुच मुझसे प्रसन्न हैं; तो कृपया ऐसा वरदान दीजिए जिससे मेरे पूज्य पिता का क्रोध शान्त हो जाय और यमलोक से लौट आने पर वे मुझ से प्रसन्न हों और मुझे पहचान लें।

तथास्तु—दूसरा वर ? बालक की पितृभक्ति से आह्लादित होकर यमराज ने कहा।

'भगवन्, स्वर्गलोक की महिमा मैंने खूब सुन रखी है। उस लोक में न तो भय का नाम है और न रोग की चर्चा। न तो जरा की कल्पना से लोगों के हृदय काँप उठते हैं और न यमराज के प्रभाव की स्मृति उनके चित्त को कम्पित करती है। भूख-प्यास की वह वेदना जो प्राणीमात्र को बेचैन बनाये रहती है और जिसके प्रभाव से वह कार्याकार्य का कभी विचार नहीं करता उस लोक में किसी को नहीं सताती। आप उस अग्नि-विद्या को जानते हैं जिसका अनुष्ठान साधक को इस सौख्य-मयी स्वर्गभूमि पर पहुँचा देता है। कृपया इस विद्या को मानवों के कल्याणार्थ बतलाइए'।

यमराज ने बड़े प्रेम से इस स्वर्ग के साधनभूत अग्निविद्या को बतलाया—वेदी की रचना तथा उसमें लगने वाले ईंटों के निर्माण तथा संख्या को भली भाँति समझा दिया। विषय कठिन था, परन्तु मेधावी नचिकेता के लिए यह नितान्त सुबोध था। उसने इस विद्या को यथावत् प्रगट कर यमराज को आश्चर्य में डाल दिया। प्रसन्न-वदन देवता ने नचिकेता के नाम पर ही इस अग्नि का भी नाम 'त्रिणाचिकेत' रख दिया।

बालक की ओजस्विता धीरे धीरे प्रकाश में आने लगी।

४

मृत्यु मानव बुद्धि के निमित्त एक विषम पहेली है। इस भौतिक शरीर से प्राणों के बाहर निकल जाने के बाद क्या कोई ऐसी वस्तु है जो अपनी सत्ता बनाये रहती है ? इस प्रश्न

की मीमांसा हमारे लिए नितान्त आवश्यक है । इस लोक के अनन्तर कोई अन्यलोक भी है जहाँ मानव नवीनरूप धारण कर अपने कर्मों का फल भोगता है अथवा यही शरीर उसके जीवन का अवसान है ? मनुष्यमात्र के लिए आवश्यक यह समस्या बालक नचिकेता के मस्तिष्क को विशेष पीड़ा पहुँचा रही थी। वह किसी विज्ञ उपदेष्टा की खोज में था। यमराज मृत्यु के देवता ठहरे। उनसे बढ़ कर मृत्यु की समस्या को सुलझाने वाला उपयुक्त व्यक्ति दूसरा कौन हो सकता है? बालक ने अपना तीसरा प्रश्न इसी विषय में पूछा।

प्रश्न के श्रवणमात्र से यमराज की मुद्रा बदल गई। इतने अल्पवयस्क बालक का इस गहन अध्यात्मविद्या के विषय में सन्देह उपस्थित करना एक कौतुकावह व्यापार था। उन्होंने नचिकेता को इस विषम समस्या को सुलझाने से दूर हटाने के निमित्त नाना प्रकार के प्रलोभन देना शुरू किया। मर्त्यलोक में जितनी दुर्लभ वस्तुएँ हैं उन्हें स्वीकार कर लो—सुन्दर अभिराम रमणियाँ, शतायु सन्तानें, हस्ती तथा हिरण्य से परिपूर्ण विशाल भूमण्डल, रथ और घोड़े, परन्तु इस रहस्य के जानने के लिए आग्रह मत करो। परन्तु नचिकेता उन्नत-शिखर हिमालय के समान अडिग खड़ा था। उसके हृदय को अनुपम वस्तुओं के प्रलोभन ने तनिक भी विचलित नहीं किया। जिन पदार्थों की स्थिति कल तक भी स्थिर नहीं है, उन मृगतृष्णा के समान विषयों में कौन अपने मनोमृग को आसक्त बनावे? यमराज का आग्रह तनिक भी कम नहीं हुआ और नचिकेता की दृढ़ता तनिक भी क्षीण नहीं हुई। बालक की

ओजस्विता ने यमराज के हृदय में विस्मय की सरिता बहा दी। इतनी छोटी उम्र में इतनी दृढ़ता—इतना सत्यानुराग—इतना सत्याग्रह! ऋषि बालक के सामने देवता को भी झुकना पड़ा। संयमनोपुरी ऋषि बालक की तेजस्विता देखकर आनन्द से खिल उठी।

यमराज प्रसन्नवदन से बोलने लगे—इस 'अणु' धर्म की मीमांसा दुरूह है। देवताओं को भी इस विषय में सन्देह बना हुआ है। मृत्यु के अनन्तर भी सत्ताधारण करने वाला पदार्थ है। उसीका नाम आत्मा है। वह अमृत है, अमर है, शुक्र है। जिस प्रकार अग्नि एक है, परन्तु वह जगत् के पदार्थों में प्रवेश कर नाना रूप धारण कर लेता है, उसी प्रकार सब प्राणियों का अन्तर्यामी प्रेरक एक ही अभिन्न तत्त्व है, परन्तु आश्रित रूपों के अनुसार वह नाना प्रतीत होता है। इस नश्वर जगत् के मूल में वही अनश्वर तत्त्व सर्वत्र व्यापक रूप से विद्यमान दृष्टिगत होता है। इस लोक और परलोक में वह तत्त्व क्रियाशील हो रहा है। जो यहाँ है, वह वहाँ है और जो वहाँ है, सो यहाँ है। जो व्यक्ति इस जगत् में दृश्यमान अनेकता के भीतर एकता का अनुभव नहीं करता, वह कभी दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता। वह प्रपञ्च के चक्र से कभी विराम नहीं प्राप्त कर सकता।

मनुष्य को तब तक शाश्वत सुख प्राप्त नहीं हो सकता, जब तक वह अन्तर्यामी पुरुष का साक्षात् अनुभव नहीं करता। नाना प्रकार के काम, तरह तरह की वासनायें प्राणी मात्र को इधर से उधर भटकाया करती हैं। मनुष्य को उचित है इन कामों को दूर हटावे। इस कार्य की सिद्धि का राजमार्ग है—योग

का अभ्यास। इन्द्रियों के द्वारा विषयों में भटकने वाले चित्त को जब तक अपने वश में न लाया जायगा, तब तक शाश्वत सुख की प्राप्ति की आशा दुरशामात्र है। जब हृदय में रहने वाले काम दूर हो जाते हैं तब मर्त्य अमर बनता है और इसी जीवन में वह ब्रह्म को पा लेता है। हृदय की ग्रन्थियों को खोलने का यही एक द्वार है इस अविनश्वर अमृत तत्त्व का साक्षात् अनुभव। प्राणीमात्र के लिए यही मेरा सन्देश है। वे बाहरी आवरणों के प्रलोभन में न पड़ें —मूल वस्तु के पहचानने का उद्योग करें। इस एकत्व का अनुभव समस्त कलहों का—क्लेशों का—परितापों का— एकमात्र अवसान है।

ऋषि बालक का सत्याग्रह सफल हुआ। यमराज के एकतो-सिद्धान्त के सन्देस को उसने जगत् के कोने कोने में पहुँचा दिया। प्राणियों ने अपने वास्तविक मंगल के साधने का उपाय पाया। जगतीतल का संतप्त हृदय इस उपदेशामृत के पान से आप्यायित हो उठा।

बालक की तेजस्विता को प्रकट देखकर प्रौढ़ों के नेत्र आश्चर्य से चकाचौंध हो गए।
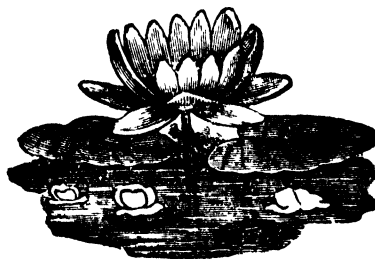
साधना

१

राजर्षि रथवोति दाल्भ्य के नगर की आज सजावट देखने ही योग्य है । राजमार्गों पर चन्दन जल का छिड़काव हो रहा है । सुगन्धित सुमनों की महक सर्वत्र सौरभ-भार का विस्तार कर रही है । नगर निवासियों के घर में भी चहल-पहल कम नहीं है । आज महाराज रथवोति ने एक बड़े यज्ञ का आयोजन किया है । इसके निमित्त एक लम्बी-चौड़ी भूमि साफ-सुथरी बनाई गई है । यज्ञ के लिए विशाल वेदी की रचना की गई है । वेदी के ऊपर शोभन यज्ञमण्डप दर्शकों के नेत्रों को हठात् अपनी ओर आकृष्ट कर रहा है । मण्डप में सुन्दर चौकोने काठ के बने चिकने खम्भे गाड़े गये हैं जिनके ऊपर लाल-पीले, काले-नीले, रँग-विरंगे फूलों की मालायें लटक रही हैं । वितान से मोती की झालरें झूल रही हैं । परिष्कृत वेदी पर श्रौत अग्नियों की स्थापना के लिए भिन्न भिन्न स्थानों पर भिन्न भिन्न आकृति वाले प्रतिष्ठा-स्थान चुनकर रचे गये हैं । चतुष्कोण वेदी के पूरब की ओर एक चौकोना स्थान तैयार किया गया है जिस पर देवताओं के होम के लिए आहवनीयाग्नि की स्थापना की गई है । पश्चिम दिशा में गार्हपत्याग्नि के निमित्त वृत्ताकार वेदी

दीख पड़ती है जिसमें यजमान-पत्नी के द्वारा होम का अनुष्ठान किया जायगा । दक्षिण ओर अर्धवृत्ताकार वेदी दक्षिणाग्नि की प्रतिष्ठा के लिए तैयार है जिसमें पितृ-गणों की तृप्ति कामना से हवन किया जायगा । वेदी की रचना पर दृष्टिपात करते ही यजमान की कुशलता तथा आस्तिकता का परिचय दर्शकों को भली भाँति मिल जाता है ।

क्षौमयुगल धारण कर यजमान दम्पति ने दीक्षा ग्रहण की है। वे निमन्त्रित ऋत्विग्गणों की उचित अभ्यर्थना कर रहे हैं तथा उन्हें यथोचित आसनों पर बिठला रहे हैं । इतने में यज्ञ मण्डप में नीरवता विराजने लगती है; जन-समुदाय का कलरव अकस्मात् शान्त हो जाता है । मण्डप के सामने से दो ऋषिवर्य भीतर आते हुए दिखाई पड़ते हैं । आगे चलनेवाले व्यक्ति की लम्बी सफेद दाढ़ी उनकी अवस्था का परिचय दे रही है तथा पीछे आने वाले पुरुष की युवावस्था की सूचना उनका श्मश्रुविहीन मुखमण्डल दे रहा है । दोनों का चेहरा ब्रह्मतेज से दमदमाता हुआ, सद्योविद्रुत सुवर्ण के समान चमचमाता हुआ था—विशाल ललाट के ऊपर शुभ्र त्रिपुण्ड, मस्तक के ऊपर पिङ्गलवर्ण लम्बी जटायें, एक हाथ में कमण्डलु तथा दूसरे में स्थूल दण्डयष्टि । मुख मण्डल से नितान्त सरल तथा भोलापन का भाव फूट रहा था । इन दोनों पुरुषों को देखने से यही प्रतीत होता था कि मानवों को अपने दर्शन से पवित्र करने के लिए दिव्य पुरुषों ने अवतार ग्रहण किया है । दूर से ही इन्हें आते देखकर रथवीति अपना आसन छोड़कर खड़े हो गए । आगे बढ़कर इनका अभ्युत्थान किया तथा मण्डप में ले आकर

इन्हें उचित आसन पर बैठाया। वृद्ध व्यक्ति का नाम था—महर्षि अर्चनाना आत्रेय तथा युवा पुरुष का नाम था—श्यावाश्व आत्रेय, जो अर्चनाना के ज्येष्ठ पुत्र थे।

रथवीति ने महर्षि अर्चनाना को हौत्र के लिए निमन्त्रित किया है। राजा के विशेष आग्रह करने पर महर्षि ने होता का यह गुरुतर भार स्वीकार किया है। अर्चनाना महर्षि अत्रि के पुत्र हैं तथा अपने समय के एक बड़े भारी ब्रह्मवेत्ता हैं। उनके माहात्म्य का विचार कर ही राजा ने उन्हें अपने यज्ञ में उपस्थित होकर होता बनने का कार्य सौंपा है। ऋग्वेद के अत्रिमण्डल (पञ्चम मंडल) के अनेक सूक्तों के वे ऋषि हैं। अन्य निमन्त्रित ऋत्विग् लोग पहले से ही यज्ञमण्डप में उपस्थित थे। अर्चनाना के आने में थोड़ा विलम्ब हो गया था। उनके आते ही वितान का विधान प्रारम्भ हुआ। होता ने ऋचाओं का विधिवत् उच्चारण कर आहवनीय देवता की स्तुति कह सुनाई; अध्वर्यु ने मन्त्र पढ़ पढ़ कर अग्निकुण्ड में घृत तथा यव की आहुति देना आरम्भ किया। उद्गाता ने सामों का विधिवत् गायन किया; सामगायन की मधुर स्वरलहरी मण्डप में गूँजने लगी; श्रोताओं का मनो-मयूर इस मधुमय मूर्च्छना-संवलित साम को श्रवण कर आनन्दा-तिरेक से नाच उठा। वैतानिक धूम पवन के साथ अठखेलियाँ करता हुआ मण्डप के बाहर आकाश में बिखर उठा। धूम की लम्बी रेखा स्वर्गारोहण के निमित्त विरचित सोपान-पंक्ति के समान दृष्टिगोचर होने लगी। वायु होमगन्ध को चारों ओर बिखेरने लगी जिसे सूँघने मात्र से प्राणियों के आत्माओं में लघुता की अनुभूति होने लगी। यज्ञ के इस मांगलिक आरम्भ

का अवलोकन कर दर्शक-मण्डली अपने को कृतकृत्य समझने लगी।

२

जब महर्षि अर्चनाना ने यज्ञ के विराम होने पर इधर उधर दृष्टि डाली तब वह यज्ञमण्डप में एक विशिष्ट आसन पर आसीन एक युवति पर पड़ी। उनकी दृष्टि वहीं ठिठक सी गई। उसकी वेश-भूषा को देखकर महर्षि को यह समझते देर न लगी कि महाराज रथवीति की यह इकलौती पुत्री मनोरमा है। वह कौसुम्भ क्षौम-परिधान केसरिया रेशमी साड़ी पहने हुए थी जिसके ऊपर सुनहले तारों से जरी का काम किया गया था। नदी के जल पर सूर्य की किरणों के पड़ने से जिस तरह की चमक दीख पड़ती है, उसी प्रकार की चमक उस क्षौम वस्त्र से भी निकल रही थी। शरीर का ऊपरी भाग एक बहुमूल्य चढ़ाऊ चादर से ढका हुआ था। भीतर उसने हिरण्यमयी द्रापि (चोली) पहन रखा था। माथे के स्निग्ध चिकने बाल 'ओपश' के रूप में सँवारे गये मनोहर दीखते थे। उसने अपनी रुचि के अनुसार सुनहले आभूषणों को धारण कर रखा था। कानों से लटकने वाले 'कर्णशोभन' की छटा से मुख-मण्डल चमक रहा था। वक्षःस्थल को 'रुक्म' ने विभूषित कर रहा था। ग्रीवा की शोभा सुवर्ण के बने 'निष्क' ने द्विगुणित कर दी थी। उस रमणीरूप के निर्माण में विधाता ने तो अपनी चतुराई लगा ही दी थी, परन्तु मनुष्य ने भी उसे सुसज्जित करने में अपनी बुद्धिमत्ता बचा न रखी थी। वह रूप प्रकृति और कला के सुन्दर सहयोग से विकसित हो उठा था।

युवति मनोरमा को अर्चनाना ने देखा। देखते ही उनके हृदय ने कहा—क्या ही अच्छा होता यदि यह राजकुमारी मेरी पुत्रवधू बनती। पर उनके मस्तिष्क ने झट उत्तर दिया—यह बात होने की नहीं है। भला, यह ऐश्वर्यशाली सम्राट् अपनी राजकुमारी का विवाह एक अकिञ्चन तपोधन के पुत्र के साथ करने को तैयार होगा? हृदय ने कहा—'तो दोष ही क्या है? राजा के सामने प्रस्ताव डालकर उनकी सम्मति ले ली जाय।' महर्षि ने हृदय और मस्तिष्क का वार्तालाप सुना और वे हृदय की बात उपयुक्त समझ कर प्रस्ताव डालने के अवसर की प्रतीक्षा करने लगे।

३

'राजन्, मेरा एक प्रस्ताव आपको मानना पड़ेगा'—यज्ञ की समाप्ति पर महर्षि ने कहा।

'कौन सा प्रस्ताव? ऋषिवर'—राजा ने झट पूछा।

'यही कि आपको अपनी रूपवती राजकुमारी का विवाह मेरे गुणवान् पुत्र श्यावाश्व के साथ करना होगा'।

'बड़ा ही उचित प्रस्ताव है; महर्षे'—आनन्द से गद्गद होकर रथवीति ने कहा। महर्षि के पुत्र के साथ उनकी पुत्री का विवाह सम्पन्न होगा, इस कमनीय कल्पना ने उनके हृदय में आह्लाद-तरङ्गिणी का संचार किया। उनकी आँखों में हर्ष के आँसू छलकने लगे, देहयष्टि कण्टकित हो उठी। अपने आन्तरिक भाव को दबाने में अपने को असमर्थ पाकर राजा ने अपने उत्तर को दुहराया—'बड़ा ही उचित प्रस्ताव है, महर्षे। श्यावाश्व गुणी हैं, विद्वान् हैं, ब्रह्मवर्चस्वी हैं। गुरु के पास रह

कर उन्होंने साङ्ग वेदों का उचित अनुशीलन किया है। ब्रह्मचर्य के पालन करने से उनका शरीर तपे हुए सोने की तरह चमकता है; मुखमण्डल मध्याह्न सूर्य के समान दर्शकों के नेत्रों को चकाचौंध बनाता है। शास्त्रों के अभ्यास से इनकी प्रखर धिषणा को देख कर बृहस्पति को भी बुद्धि एक बार चकरा उठती है। ये विनय के साक्षात् निकेतन हैं, सद्गुणों के मनोरम आगार हैं। कौन ऐसा पिता होगा जो अपनी पुत्री का पाणिग्रहण ऐसे सुयोग्य वर के साथ करने के लिए उत्सुक न होगा ? मेरा भी संकल्प गुणवान् व्यक्ति को कन्या देने का है। अतः मैं आपके इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार करता हूँ। परन्तु एक बात अभी अपेक्षित है' ?

'कौन सी बात ?'

'महारानी को सम्मति लेना नितान्त आवश्यक है। बिना उनकी सम्मति पाये मैं इस विषय में अग्रसर होना नहीं चाहता। उनकी गोद में पली प्रिय पुत्री को विवाह-गाँठ किस व्यक्ति के साथ जोड़ी जाय ? इसके लिए मुझ से कहीं अधिक चिन्ता महारानी को है। अतः उनकी सम्मति को मैं अपनी सम्मति से कहीं अधिक महत्त्व का मानता हूँ'।

'बहुत अच्छा'—महर्षि ने विचार-पूर्ण मुद्रा में कहना आरम्भ किया—'अनार्य लोग विवाह को विशेष महत्त्व प्रदान नहीं करते, परन्तु आर्यों की दृष्टि में विवाह समाज की मूल प्रतिष्ठा है। नींव के बिना प्रासाद की जैसी शोचनीय दशा होती है, विवाह के बिना समाज की भी अवस्था वैसी ही होती है। मूलविहीन वृक्ष के समान विवाहहीन समाज के सूखने में

देर नहीं लगती। हमारी सात्त्विक दृष्टि में विवाहयाग की गरिमा अन्य यागों की अपेक्षा तिलमात्र भी न्यून नहीं है। विवाह यज्ञ के समान पवित्र है, कल्पतरु के तुल्य कामद है। विवाह स्त्री-पुरुष की क्षणिक इन्द्रिय वासना की तृप्ति का साधन-मात्र नहीं है, प्रत्युत कलुषित काम-वासना को दूर हटाकर विशुद्ध प्रेम को उत्पन्न करने के लिए, वर-वधू के हृदयों को एकत्र बाँध रखने वाला यह एक परम पवित्र पाश है। यह वह मार्ग है जिस पर मनुष्य स्वार्थ से हट कर परमार्थ की ओर अग्रसर होता है; वह सोपान है जिससे मानव समाज मानवता के पङ्क से हट कर देवत्व के अभिराम मन्दिर में जा पहुँचता है। आपकी प्यारी पुत्री के इसी विवाह-संस्कार के विषय में मेरा यह प्रस्ताव है। अतः अन्य धार्मिक कृत्यों के समान इसमें जायापति को एक साथ प्रवृत्त होना चाहिए'।

महर्षि की आज्ञा पाकर रथवीति अन्तःपुर में गये और अपनी महिषी के सामने यह प्रस्ताव रखा। श्यावाश्व की सच्ची प्रशंसा करने से भी वे विरत न हुए—'श्यावाश्व की मञ्जुल मूर्ति देखते ही क्षणमात्र में दर्शकों के हृत्पट पर सदा के लिए अङ्कित हो जाती है। वे जितने ही रूपवान् हैं उतने ही गुणवान् हैं। उनका बाह्य तथा अभ्यन्तर समभावेन विमल, विशद और विशुद्ध है। गुरु के आश्रम में रह कर उन्होंने वेदों का गाढ़ अनुशीलन किया है। मन्त्रार्थ के ज्ञान में उनकी निपुणता सर्वत्र विख्यात है। उनका कुल भी नितान्त पवित्र तथा पुरातन है। वे महर्षि अत्रि के पौत्र तथा मन्त्रदृक् अर्चनाना के पुत्र हैं। अतः मेरी दृष्टि में ऐसे सुयोग्य वर का हमारी गुणवती कन्या

के लिए मिलना अनायास साध्य नहीं है। तुम्हारी जैसी इच्छा, परन्तु मैं तो इस प्रस्ताव से सहमत हूँ। सुशिष्य को दी गई विद्या के समान, श्यावाश्व से विवाहित मेरी पुत्री कभी शोचनीय नहीं हो सकती'।

महारानी ने इस प्रस्ताव को उसी उत्सुकता के साथ सुना जिसके साथ उसके गुणों को। वह स्वयं एक राजर्षि की पुत्री तथा दूसरे राजर्षि की धर्मपत्नी थी। शास्त्राध्ययन से उनकी बुद्धि प्रखर थी। विचार कर झट बोल उठीं—'स्वामिन्! मैं आपकी आज्ञा को सन्तत अनुगामिनी हूँ। पर इस अवसर पर आपके कथन से असम्मति प्रकट करते मुझे खेद हो रहा है। श्यावाश्व सद्गुणों के आगार हैं अवश्य, परन्तु उस गुण से नितान्त विरहित हैं जिसका मूल्य मेरी दृष्टि में सब से अधिक है। वह गुण है—ऋषित्व। मन्त्रवेत्ता तथा मन्त्रद्रष्टा में महान् अन्तर है। समधिक तपस्या के अनुष्ठान से जिस व्यक्ति का प्रातिभ चक्षु उन्मीलित हो गया है वही ऋषि को महनीय पदवी धारण करने का अधिकारी है। ऋषि की दृष्टि के आगे दर्पण-प्रतिबिम्बित जगतीतल के समान समस्त विश्व प्रस्तुत रहता है। उसके आर्ष विलोचन के सामने त्रिकाल—भूत, भविष्य और वर्तमान—अपनी अनन्त लीलाओं को समेट कर क्षणमात्र में उपस्थित हो जाता है। ऋषि उस अक्षर तत्त्व की अपरोक्ष अनुभूति कर लेता है जिस सत्य के सत्यभूत एक तत्त्व के विज्ञान से समग्र जगत् का एक एक कण विशेष रूप से ज्ञात हो जाता है। राजन्! मुझे ऐसे ऋषि को अपना जामाता बनाने की इच्छा है। अब तक मेरे कुल में ऋषि से भिन्न को

कन्या का प्रदान किया ही नहीं गया है। किसी ऋषि को अपनी पुत्री दीजिए जिससे वह वेद की माता बन सके, क्योंकि मन्त्र द्रष्टा ऋषि को लोग वेद का पिता मानते हैं। श्यावाश्व ऋषि के पौत्र हैं, ऋषि के पुत्र भी हैं परन्तु वे स्वयं ऋषि तो नहीं हैं। अतः मेरी सम्मति में इस समय वे मेरी पुत्री के पाणिग्रहण करने की योग्यता से सर्वथा वञ्चित हैं'।

महारानी के इस कथन के एक एक अक्षर ने राजा के हृदय में ऋषित्व के गौरव को जगा दिया। वे अन्तःपुर से लौट कर मण्डप में आए और बड़े खिन्न स्वर में महारानी की असम्मति तथा उसके कारण को कह सुनाया। अर्चनाना यह सुन कर चुप हो रहे। उनकी कामना-कमलिनी पर सद्यः तुषारपात हो गया। यज्ञ समाप्ति होते ही वह अपने आश्रम को लौट आये। उनके साथ निराश श्यावाश्व भी उस यज्ञमण्डप से लौट आये, परन्तु उनका मन राजकुमारी के पास से नहीं लौटा।

४

तप का फल भी धैर्य के फल के समान ही मीठा होता है। तपस्या का आचरण वह कल्याणमार्ग है जिसका पथिक कभी दुर्गति में नहीं पड़ता; तप के बल से ब्रह्मा विश्व की सृष्टि करता है; तप के बल से सूर्य प्राणियों का कल्याण साधन करता है; तप के बल से धरित्री जीवों को अपनी छाती पर धारण कर टिकी हुई है। भग्नमनोरथ श्यावाश्व ने अपनी अभीष्टसिद्धि के लिए उसी मार्ग का अवलम्बन श्रेयस्कर समझा। महिषी के हाथों प्रत्याख्यान, सुन्दरी के न मिलने की समधिक वेदना, ऋषित्व

लाभ न करने से सातिशय ग्लानि—इन सबों ने मिलकर श्यावाश्वके हताश हृदय में तपस्या करने के लिए द्विगुणित उत्साह भर दिया। ब्राह्मणयुवक ने तपस्या की वेदी पर अपने समस्त सुखों की बलि चढ़ा दी। वे लगे घोर तपस्या करने। इसका मीठा फल तुरन्त मिला। एक दिन एक विचित्र घटना के साक्षात्कार से इनके शान्त हृदय में कौतुक की लहरी उठने लगी। उन्होंने अपने सामने अनेक दिव्य पुरुषों को देखा—शरीर उनका तप्त सुवर्ण के समान चमकता था, कन्धों पर था आयुध (ऋष्टि), पैरों में थी हिरण्यमयी पादुका (खादि), छाती पर थी सोने की माला (रुक्म); हाथों में थी अग्नि ज्वाला के समान भासुर विद्युल्लता, माथे पर था सुवर्णमय उष्णीष (शिप्रा); पुरुषों में यौवन का उमंग भरा था। उनकी कमनीय काञ्चनमयी काया से प्रभा फूट रही थी और दर्शक के नेत्रों को क्षण भर के लिए अभिभूत कर रही थी। श्यावाश्व ने विस्मय-विकसित विलोचनों से इन दिव्य पुरुषों को बार बार देखा, परन्तु उन्हें पहचान न सके।

अन्ततो गत्वा इन्होंने पूछना आरम्भ किया—हे श्रेष्ठतम पुरुष, आप लोग कौन हैं? कहाँ से आप लोगों का आगमन हुआ है? आपके घोड़े कहाँ हैं? लगाम कहाँ है जिनके सहारे आप लोगों ने यहाँ पधारने की कृपा की है? ये प्रश्न अभी समाप्त भी न हुए थे कि इन दिव्य पुरुषों ने अपने तपस्वी भक्त पर अपनी अनुग्रह दृष्टि फेरी। श्यावाश्व के अन्तस्तल से अज्ञान का अन्धकार-पटल सहसा दूर हो गया। उनके प्रातिभचक्षु का उन्मीलन हो गया। परम तत्त्व की अपरोक्ष अनुभूति उन्हें हो

गई। इतने दिनों की कुसुमित कल्पना सहसा मीठे फल फलने लगी। उन्होंने अपने इष्टदेव मरुतों को तुरन्त पहचान लिया और उनकी आन्तरिक भक्ति-भावना ऋङ्मन्त्रों के व्यक्त रूप में झट प्रकट होने लगी।

श्यावाश्व ने गद्गद कण्ठ से मरुद्गणों की स्तुति करना आरम्भ किया:—

हे भगवन्, आप लोग जिस किसी राजा को या ऋषि को सत्कर्म में प्रेरित करते हैं, उसका विजय सर्वत्र अवश्यंभावी होता है। न तो उसे कोई जीत सकता है, न कोई मार सकता है; न तो उसकी हानि होती है, न व्यथा और न बाधा। न तो उसकी सम्पति कभी नष्ट होती है और न उसकी रक्षा कभी ह्रास को प्राप्त करती है[1]।

हे मरुत् लोग, आप लोग स्पृहणीय पुत्रों से युक्त धन देते हैं; सामगायन में निरत ऋषि की रक्षा करते हैं, देवताओं को हविष्य देने वाले पुरुष के लिए घोड़ा देते हैं और राजा को पुत्र-सम्पन्न बनाते हैं। आपकी दयादृष्टि की महिमा अपार है[2]।

१—न स जीयते मरुतो न हन्यते न स्रेधति न व्यथते न रिष्यति।
नास्य राय उप दस्यन्ति नोतय ऋषि वा यं राजानं वा सुषूदथ॥
—ऋ० वे० ५।५४।७।

२—यूयं रयिं मरुतः स्पार्हवीरं
यूयमृषिमवथ सामविप्रम्।
यूयमर्वन्तं भरताय वाजं
यूयं धत्थ राजानं श्रुष्टिमन्तम्॥
—ऋ० वे० ५।५४।१४

हे मरुद्गण, आपका माहात्म्य स्तुति करने के योग्य है, वह सूर्य के रूप के समान दर्शनीय है। हम आपके उपासक हैं। हमें अमृतत्व प्रदान कीजिए। शुभस्थान को जाने वाले आपके पीछे पीछे रथ अनुवर्तन करते हैं[1]। आप प्रभूत वृष्टि कर प्राणीमात्र की तृप्ति करते हैं, आप की शक्ति अपार है; आपका शरीर घोर तथा भयङ्कर है (घोरवर्पसः) आप पर्वतों को प्रकम्पित करते हैं तथा समुद्र में भयानक तरङ्गमाला को उत्पन्न करते हैं। आप वृत्र के मारने के अवसर पर इन्द्र की सहायता करते हैं। आपने बड़ी कृपा की जो मेरी तपस्या को सफल बनाया।

स्तुति मरुद्गणों के नितान्त आह्लाद का कारण बन गई। उन्होंने अपने गले की काञ्चन माला निकाली तथा श्यावाश्व के गले में डाल दी। भगवान् ने भक्त को अपना प्रसाद अर्पण किया। भक्त अलौकिक आनन्द से गद्गद हो उठा। उसकी वर्षों की कठिन साधना क्षणभर में सफल हो गई। मनोरथ की वेलि लहलहा उठी। कामना की कमनीय वल्लरी खिल उठी। भक्त ने अपने इष्ट देव का दिव्य दर्शन कर अपने जीवन को धन्य माना। वह अपने अतृप्त नेत्रों से उन्हें निरख ही रहा था कि मरुद्गण अकस्मात् अन्तरिक्ष में अन्तर्हित हो गए। पुनः दर्शन की लालसा को अपनी आँखों में छिपा कर श्यावाश्व ने उन्हें बन्द कर लिया।

१—आभूषेण्यं वो मरुतो महित्वनं
दिदृक्षेण्यं सूर्यस्येव चक्षणम्।
उतो अस्माँ अमृतत्वे दधातन
शुभं यातामनु रथा अवृत्सत ॥ ऋ० वे० ५।५५।४

५

प्रेम की महिमा अगाध है ! वह निर्बलों में बल का संचार करता है, निरुत्साहों में उत्साह का पुट भरता है, निराशा में आशा का प्रश्रय देता है; निरुद्योगियों में उद्योग का आश्रय देता है। जिधर दृष्टिपात कीजिए, उधर ही प्रेम का प्रभाव लक्षित होता है। प्रभात पवन के मन्द झोंकों से झुकी लतायें अपनी नीरव भाषा में, अपने प्रेमी की चाटुकारी में चहकने वाली चिड़ियाँ अपनी अस्फुट भाषा में तथा प्रियतम के विकसित स्मितवदन को निरख कर मचलने वाली सुन्दरियाँ अपनी स्फुट भाषा में इसी प्रेम के कीर्ति-कलाप का गायन किया करती हैं। श्यावाश्व को कठिन तपस्या में लगाने का श्रेय प्रेम को ही है और उसकी साधना को सफल बनाने का गौरव भी प्रेम को ही प्राप्त है। मनोरमा के प्रेम ने विप्र श्यावाश्व को ऋषि श्यावाश्व बना दिया ! प्रेम की करनी सचमुच विचित्र है !!!

इस अद्भुत दृश्य को इन्हीं चर्मचक्षुओं से साक्षात्कार कर श्यावाश्व किञ्चित् किंकर्तव्य विमूढ़ से बन गये थे। चेतनता आते ही उन्होंने अपने शरीर में, मन में, हृदय में, एक विचित्र प्रकार की स्फूर्ति का अनुभव किया। इष्टदेव की अपरोक्ष अनुभूति की सुधा ने उन्हें आनन्द सागर में डुबा दिया। श्यावाश्व का नवीन जन्म हुआ ! अब वे द्विजभाव से ऊपर उठ कर ऋषिभाव में प्रविष्ट हो गए। आश्रम छोड़ कर अपने पितामह महर्षि अत्रि के दर्शन के लिए चल पड़े। मार्ग में जो कोई इन्हें देखता, झट मस्तक झुका देता था। आगे चल कर महाराज 'तरन्त' और उनकी परम विदुषी महिषी 'शशीयसी' से इनकी भेंट

हुई। ये दोनों स्वयं गुणियों की पहचान में बड़े जागरूक थे। ऋषि के दर्शनमात्र से इन्होंने उनकी सिद्धि का अनुमान कर लिया और उन्हें सत्कार करने के लिए अधीर हो उठे। महारानी की परख राजा से कहीं अधिक थी।

शशीयसी बड़ी उदारचेता थी। वह दुःखियों का दुःख दूर करती, धन चाहने वाले कामियों की कामना पूरा करती; अपना मन सदा देवों की पूजा-अर्चा में लगाती। उसने देखते ही ऋषि की वास्तविक योग्यता को समझ लिया और दोनों ने मिल कर श्यावाश्व की बड़ी अभ्यर्थना की; सैकड़ों गायों; घोड़ों और सुवर्ण आभूषणों का दान देकर अपनी गुणग्राहिता का पर्याप्त परिचय दिया! इतना ही नहीं, तरन्त ने ऋषि को अपने अनुज राजा पुरुमीढ के पास भी भेजा। पुरुमीढ ने भी वैभव के अनुसार अपने विशिष्ट अतिथि के सत्कार करने में त्रुटि नहीं की। इन राजाओं के आदर भाव को देख कर श्यावाश्व को परम सन्तोष हुआ और उन्हें अपने ऋषित्व की उपलब्धि पर स्वाभाविक अभिमान का भी उद्रेक हुआ।

६

श्यावाश्व के कुशलपूर्वक सफल मनोरथ लौट आने पर महर्षि अत्रि के आश्रम में आनन्द की नदी बहने लगी। आश्रमवासियों के मुखमण्डल पर प्रसन्नता नाच उठी। श्यावाश्व ने वृद्ध पितामह अत्रि के चरणों में अपने नाम और गोत्र का उच्चारण कर प्रणाम किया। बालक के गले में रुक्ममाला देखते ही अत्रि की आँखों से आनन्द के आँसू टपक पड़े, मरुद्गणों की महती कृपा का बाह्य चिह्न पाकर वे गद्गद हो गये और

श्यावाश्व से विह्वल वचनों में कहने लगे—'वत्स, आज मेरा दीर्घ जीवन वस्तुतः सफल हुआ। आज मैं इन्हीं नेत्रों से अपने पौत्र के ऋषित्व लाभ के असंदिग्ध चिह्नों को देख रहा हूँ। वत्स, अब तुम अजेय हो, अतिरस्करणीय हो, तुम ने कठिन तपस्या कर सद्यः ऋषिपद को प्राप्त किया है। मेरा मुख तथा मेरे कुल का भविष्य तुम्हारे इस आचरण से सदा उज्ज्वल रहेगा। अब अर्चनाना को मध्यस्थता की आवश्यकता नहीं रही। तुम स्वयं जाकर रथवीति दाल्भ्य की पुत्री का पाणिग्रहण कर आवो'।

पितामह को आज्ञा शिरोधार्य कर श्यावाश्व रथवीति से मिलने के लिए चल पड़े, परन्तु अपने मुँह अपनी बड़ाई करना हास्यास्पद समझ कर उन्होंने भगवती रात्रि को अपना दूत बनाकर राजा के पास इन शब्दों में भेजा—'भगवती रात्रि (उर्म्या), तुम स्वयं विज्ञ हो। मेरे हित को हानि न पहुँचे, इस बात का ध्यान रखना। रथी जिस प्रकार रमणीय वस्तुओं को रथ में रख कर गन्तव्य स्थान को ले जाता है, उसी प्रकार तुम भी मरुद्गणों की मेरी यह स्तुति राजा रथवीति दाल्भ्य के पास ले जावो और मेरे ऋषित्व लाभ की कथा उसके कानों में सुना आवो।' रात्रि ने ऋषि के मनोरथ की पूर्ति के लिए दौत्य स्वीकार किया।

× × ×

सम्राट् रथवीति की राजधानी में आज खूब चहल-पहल मची हुई है। यह उत्सव उस समय से भी कई गुना बढ़ चढ़ कर है जब राजा ने सोमयाग का अनुष्ठान किया था। वह

पुराना अवसर था सोमयज्ञ का और यह नूतन अवसर है पुत्री के विवाह यज्ञ का। दोनों अवसर नितान्त पवित्र, पुण्यमय तथा कल्याणकारक हैं। परन्तु आज की छटा कुछ विचित्र है। मणिमय मण्डप के बीच में वेदी पर अग्निदेव की ज्वाला उपस्थित जनमण्डली को प्रभाभासुर बना रही है। राजदम्पती अपनी गुणवती सुसज्जिता पुत्री मनोरमा के साथ निमन्त्रित व्यक्तियों का स्वागत कर रहे हैं। इतने में एक मञ्जुलमूर्ति उस मण्डप में उपस्थित हुई। ब्राह्मतेज से चमकता मुख मण्डल, विशाल स्निग्ध नयन, माथे पर पिंगल जटाजूट, शरीर पर शुभ्र-वल्कल वस्त्र, हाथ में कमण्डलु और पैरों में पादुका। प्रवेश करते ही सब लोग श्यावाश्व के स्वागत में उठ खड़े हुए। राजा ने उन्हें एक ऊँचे आसन पर बैठा कर उचित आतिथ्य सत्कार कर मीठे शब्दों में विनति करना आरम्भ किया:—

'भगवन्, सदय हृदय से मेरे इस अपराध को क्षमा कीजिए।'

'कौन-सा अपराध? राजन्'—श्यावाश्व ने आश्चर्य से पूछा।

'यही आपका भूतपूर्व प्रत्याख्यान। महर्षि अर्चनाना ने आपके विवाहार्थ मेरी पुत्री मुझ से माँगी थी, परन्तु मैंने अपनी रानी की सम्मति मान कर अनृषि को कन्या देने से अनंगीकार किया था'।

'परन्तु मैं तो आप दोनों को इस विषय से निर्दोष पाता हूँ। आप लोगों ने उस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर अपनी कुल-मर्यादा को अक्षुण्ण बनाये रखने का स्पृहणीय कार्य किया है। सचमुच अनृषि को कन्या प्रदान करना कोई शोभन कार्य नहीं है'।

'ऋषिवर्य, मेरी अस्वीकृति ने आज आपको ऋषिपद पर अभिषिक्त कर दिया है, रात्रि देवी के मुख से यह समाचार सुन कर हमारे हर्ष की सीमा नहीं है; आज आप हमारी एकमात्र सन्तति मनोरमा का पाणिग्रहण कर मुझे कृतार्थ कीजिए। अग्निदेव को साक्षी बनाकर मैं इस मण्डप के नीचे, अपनी प्यारी पुत्री का समर्पण आपके हाथ में कर चिन्तामुक्त होना चाहता हूँ। ब्राह्म तेज का क्षात्र बल के साथ यह स्पृहणीय सम्बन्ध संसार के परम मंगल का साधन बने।'

श्यावाश्व की स्वीकृति की देर थी। स्वीकृति मिलते ही राजा ने वैदिक विधि से मनोरमा का दान ऋषि के हाथों में कर दिया। वर-वधू की अनुरूप जोड़ी देख कर प्रजामण्डली प्रसन्न हो उठी। महर्षि अर्चनाना की राजकुमारी को पुत्रवधू बनाने की कामना सफल हो गई और महिषी का ऋषि जामाता मिलने के कारण अपनी पुत्री को 'वेद जननी' की संज्ञा प्राप्त होने का मनोरथ चरितार्थ हो गया। राजा रथवीति दाल्भ्य ने राज्य कार्य की चिन्ता छोड़ कर हिमालय के अञ्चल में गोमती नदी के तीर पर तपस्या करते हुए परमपद को प्राप्त किया।

आज भी भारतवर्ष की पश्चिमोत्तरी सीमापर गोमती नदी[1] पत्थरों से टकराती कलकल करती हुई रथवीति के आश्रम से होकर बहती है और सिन्धु से मिलते समय इस आदर्श नरपति के पवित्र चरित्र की कमनीय कहानी उसके कानों में सुनाती है।

१—सिन्धु की सहायक गोमल नदी।

पतिव्रता

१

आज अपर समुद्र के तीर पर स्थित विशाल आश्रम में उत्सव की तैयारियाँ हो रही है। शुक्लवसना सुन्दरी के समान फेन के व्याज से मन्द मन्द मुसुकाती नर्मदा अपने प्रियतम रत्नाकर से आलिङ्गन के निमित्त बड़ी उतावली से प्रवाहित हो रही है। आश्रम को प्रकृतिदेवी ने अपने कर-कमल से सुसज्जित कर रखा है। स्थान-स्थान पर अभिराम बन्दनवार, रमणीय पुष्पमाला झूम-झूमकर आश्रमवासियों के अन्तर्निहित हर्षातिरेक को बाहर प्रकट कर रही हैं। जिधर आँखें उठती हैं उधर ही आनन्द से ठिठक कर रह जाती हैं। इस नवीन हर्ष के भीतर एक रहस्य छिपा हुआ है। आज इस भृगुकच्छ आश्रम के निवासी महर्षि भृगु की धर्मपत्नी 'पुलोमा देवी' का पुंसवन संस्कार होने जा रहा है।

महर्षि भृगु अपने समय के एक महान् तपस्वी ऋषि हैं। ये ब्रह्मदेव के पुत्र हैं, परन्तु इनकी उत्पत्ति एक विचित्र प्रकार से हुई थी। पितामह ब्रह्मा ने वरुण के यज्ञ में अग्नि से इन्हें उत्पन्न कर दिया था। तब से भृगुवंश तथा अग्निदेव का सम्बन्ध नितान्त अन्तरङ्ग है। एक दिन की विचित्र घटना है कि भृगु

जी अपनी स्त्री को अग्नि की संरक्षकता में छोड़कर अभिषेक के लिए कहीं बाहर निकल गए। अवसर पाकर पुलोमा नामक एक राक्षस उस आश्रम में आ पहुँचा और निर्जन आश्रम में एक कमनीयकलेवरा तरुणी को अकेली बैठी देखकर उसके हृदय में कामाग्नि दहकने लगी। ऋषिपत्नी ने स्वाभाविक विनम्रभाव से नवागत अतिथि के लिए फल-मूल की व्यवस्था की परन्तु अतिथि की भावभङ्गी से उन्हें समझते देर न लगी कि उसके हृदय में अशान्ति ने अपना राज्य जमाया है। भृगुपत्नी के दर्शन-मात्र से उसके हृदय को एक प्राचीन कामकथा की स्मृति शल्य के समान पीड़ित करने लगी। 'ओह ! 'पुलोमा' के पिता ने इस सुन्दरी का विवाह मेरे ही साथ करने का निश्चय किया था। मेरी स्वकृति भी उन्हें मिल चुकी थी, परन्तु मेरे उग्रस्वभाव की कल्पना ने इस मणि-काञ्चन योग को सुसम्पन्न होने नहीं दिया। जो मेरे रम्य प्रासाद के प्राङ्गण को अपने मधुमय हास्य से सरस बनाती, वही अपने पिता के दुष्ट स्वभाव के कारण आज एक जीर्ण-शीर्ण कुटीर के द्वार पर बैठी अपने बुरे भाग्य का उपालम्भ रही है। मैं इस आश्रम के कारागृह से इस रमणीरत्न का उद्धार करूँगा। परन्तु इसकी पहचान आवश्यक है।'

इतना विचार कर पुलोमा ने अग्निशाला में अवस्थित वैतान (यज्ञीय) वह्नि से पूछा—'भगवन् ! आप सब प्राणियों के भीतर विद्यमान रहते हैं, पुण्य पाप के साक्षात् साक्षी हैं, ऋषिपत्नी के नाम-गोत्र से परिचित हैं। क्या यह भृगुपत्नी वही पुलोमा नहीं है जिसका पाणिग्रहण मेरे साथ निश्चित हुआ था ?

परन्तु किसी कारण से इसके पिता ने भृगु के साथ इसका विवाह कर दिया।'

'मुझे वह शुभ घड़ी आज भी स्मरण है जब पुलोमा की परिणय-विधि भृगु के साथ वैदिक मन्त्रों की सहायता से मेरे सामने ही निष्पन्न हुई थी'—अग्निदेव ने भय से धीमे स्वर में कहा।

असुर पुलोमा की कामवासना इस उत्तर के सुनते ही जाग पड़ी। उसे मनमानी निधि मिल गई। जिसकी खोज में वह अब तक भटकता फिरता था, वह स्वयं ही खुले निधि के समान एक निर्जन आश्रम के सूने कोने में बिखरी हुई मिली। अपनी आसुरी माया का आश्रय लेकर वह वराह के रूप में उस भृगुपत्नी के सहस्रों प्रतिषेधों की अवहेलना करता हुआ बलात् हरण कर ले भागा। निर्जन आश्रम, सहायकों का नितान्त अभाव, ऋषि भृगु के आगमन में अकारण दीर्घ विलम्ब, कठोर गर्भ के कारण ऋषिपत्नी की गर्भभाराक्रान्त अलस देहयष्टि—इन सब कारणों के सहयोग से भृगुपत्नी की निःसहायता मूर्तिमती बनकर पद पद पर प्रकट होने लगी। माता के अत्यन्त क्रोध के कारण गर्भस्थ बालक भूतल पर आ गिरा। परन्तु उस आदित्य के समान तेजस्वी बालक के सामने तमःस्वभाव पुलोमा के नष्ट होते देर न लगी। जल-भुनकर वह भस्म की ढेर बन गया। ब्रह्मा ने इस संकट के समय रोने वाली भृगुपत्नी को सान्त्वना दी, परन्तु ऋषिपत्नी के नेत्रों से इतने आँसू निकले कि 'वधूसर' नामक एक नई नदी का वहाँ प्रादुर्भाव हो गया। गर्भ से च्युत होने के कारण ही उस तेजस्वी बालक का नाम

पड़ा—च्यवन। शिशु च्यवन की उत्कृष्ट ओजस्विता का प्रत्यक्ष प्रमाण पाकर पृथ्वी धन्य हो गई। आश्रम आनन्द से खिल उठा।

आश्रम में आने पर भृगु के क्रोध का ठिकाना न रहा। वैतान वह्नि का यह अन्याय आचरण! स्त्री की धर्षणा का अपराध अग्नि के ही मत्थे था। अतः उन्होंने उसे 'सर्वभक्षी' होने का घोर शाप दिया। अग्नि की मूर्ति का सर्वत्र लोप हो गया। लोक-व्यवस्था के संचालक पितामह ने अग्नि को समझा-बुझा कर प्रसन्न कर लिया और अग्नि के घोर रूप—क्रव्यादाग्नि—को सर्व-भक्षक बनने का नियम कर उसे उस शाप से मुक्त कर दिया। बालक च्यवन ने अपने पिता से आथर्वण अभिचार तथा सञ्जीवनी विद्या की प्राप्ति कर अपने बाल्यकाल को उपयोगी बनाया।

२

पावन पुष्करक्षेत्र को च्यवन ने अपनी तपस्या के निमित्त पसन्द किया। इस क्षेत्र की शोभा नितान्त लुभावनी थी। इस अभिरामता के अवलोकन के लिए ही जान पड़ता था कि पुष्कर-ह्रद ने सैकड़ों विकच कमल नेत्रों को खोल रखा था। च्यवन का यह आश्रम जंगल के बीच में स्थित था, जनावास से इतना दूर कि मनुष्यों के कोलाहल के साथ उनकी चिन्ताएँ वहाँ तक पहुँच नहीं सकती थीं। तपोवन इतना स्तब्ध और निर्जन था कि प्रकृति स्वयं मौन मुद्रा धारण कर किसी गहरी पहेली के सुलझाने में व्यस्त दीख पड़ती थी। च्यवन की कठोर तपस्या के कारण उस स्थान के प्रत्येक रजःकण में आध्यात्मिकता तथा

पवित्रता ने आश्रय ग्रहण किया था। ग्रीष्म के अनन्तर वर्षा का आविर्भाव हुआ; वर्षा के बाद शरत् का; एक ऋतु के पीछे दूसरी ऋतु आई और चली गई, परन्तु महर्षि च्यवन की समाधि नहीं टूटी।

अटूट एकाग्र भाव से वे अध्यात्म-चिन्तन में इतने निमग्न हो गए कि देह की सुध-बुध जाती रही। वल्मीक के ढेर के भीतर उनकी आधी मूर्ति छिप गई। उनकी गर्दन को साँपों ने अपने लटकने का स्थान बना दिया। उनकी केंचुल ढेर की ढेर चारों ओर बिखरी लटक रही थी। कन्धों तक लम्बी लम्बी पिङ्गल जटायें लटकती थीं जिनके झुरमुट में पक्षियों ने अपने शिशु-शावकों की रक्षा के लिए सैकड़ों घोंसले बना रखे थे। समस्त शरीर सजीवता का एक विराट अट्टहास प्रतीत होता था, परन्तु निर्जीवता के भीतर से सजीवता की मूर्ति बनी दो आँखें झाँक रही थीं। उनमें तेजःपुञ्ज झलक रहा था। आश्रम में दैवात् उपस्थित होने वाले व्यक्ति के मन में तनिक भी भान न होता था कि आश्रम की निर्जनता को भंग करनेवाले किसी पुरुष की बाह्य सत्ता वहाँ कथमपि विद्यमान थी, परन्तु उसकी पवित्रता आगन्तुक के हृदय में स्वतः चिन्ता की रेखा को दूर कर शान्ति का अपार पारावार उपस्थित कर देती थी। इस निर्जन आश्रम ने अनेक व्यक्तियों को धोखा दिया और अन्तिम बार इस प्रतारण के पात्र थे उस देश के मानी महीपति 'शर्यात मानव' के सैनिक बालक।

३

शर्यात मानव इसी पश्चिम आर्यावर्त के एकच्छत्र सम्राट

थे। एकबार मृगया की कामना को चरितार्थ करने के लिए वे उसी पुष्कर-मण्डल में आ पहुँचे। साथ में विराट सैनिकों का उत्साही दल, अन्त:पुर की रमणीय ललनाएँ तथा कमनीयगात्री तरुणी कन्या 'सुकन्या' थी। च्यवन की कठोर तपस्या से सम्राट् भली भाँति परिचित थे और उन्होंने अपने अनुचरों से तपस्या में विघ्न डालने वाले किसी भी कार्य को न करने का स्पष्ट शब्दों में प्रतिषेध किया। सैनिकों ने राजा की आज्ञा को मान लिया, परन्तु न माना केवल चंचलस्वभाव बालकों ने। च्यवन की जीर्णशीर्ण मूर्ति उनके हृदय में कौतुक उत्पन्न करने लगी। उन्होंने धृष्टता से महर्षि को बूढ़ा और निकम्मा जान कर पत्थरों से खूब पीटा। ऋषि का शान्त चित्त इस दुर्व्यवहार से नितान्त क्रुद्ध हो गया।

सैनिकों में परस्पर कलह उठ गया। बाप बेटे से लड़ने लगा और भाई भाई से। ऋषि के तिरस्कार का फल सद्य: फलने लगा। राजा के कानों तक दुर्घटना की यह बात पहुँची। उसने समस्त अनुचरों से ऋषि के तिरस्कार की बात पूछी, उसे सच्ची बातों का पता लग गया। राजा तुरन्त अपनी कन्या के साथ उस वल्मीक को देखने के लिए गया और उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब उसने वहाँ तपोवृद्ध तथा वयोवृद्ध भार्गव च्यवन की सौम्य मूर्ति देखी। मस्तक नवाकर उसने प्रणाम किया और अनजान में किये गए बालकों के अपराध के लिए क्षमा माँगी। महर्षि का सदय हृदय सैनिकों की दुर्दशा की बात सुनकर पिघल उठा, परन्तु दर्प के कारण पूज्यों की अवहेलना का दण्ड सुकन्या के परिणय पर निर्भर रखा। शर्यात

मानव ने च्यवन की बात तुरन्त मान ली। अपनी सुन्दरी कन्या का पाणिग्रहण उनके साथ उसी समय कर दिया। ऋषि प्रसन्न हो गए, सैनिकों के माथे की विपत्ति टली। च्यवनाश्रम में रह कर सुकन्या वृद्ध महर्षि की बड़ी लगन से सेवा करने लगी। अभ्यागत अतिथियों की अभ्यर्थना, ऋषियों तथा अग्नियों की परिचर्या, उसके जीवन का एकमात्र व्रत बन गया।

४

प्रातःकाल का सुहावना समय था। भीनी भीनी अलसानी हवा धीमी धीमी बह रही थी। दिनकर का सुवर्णमय बिम्ब प्राची क्षितिज के ऊपर आ गया था। उसकी मञ्जुल प्रभा आश्रम के ऊपर एक सुनहली चादर फैला रही थी जिसके भीतर से उस तपोवन की दिव्य शोभा फूट रही थी। फल-पुष्पों से झुके हुए वृक्षों पर पक्षियों का चहकना कानों में सुधा की धारा उड़ेल रहा था। सुकन्या अपनी शय्या से उठी। नित्यकर्म के अनन्तर उसने पुष्कर में जी भर कर स्नान किया। बाहर निकल कर ज्यों ही वह अपने कपड़े पहनने में व्यस्त थी, उसकी सुकुमार देहयष्टि पर दो आगन्तुक नवयुवकों की दृष्टि पड़ी। उसके शरीर पर झलक रही थी यौवनसुलभ अनिर्वचनीय कमनीयता। नेत्रों में चमक रहा था उन्मादकारी रसीलापन। युवकों से चार आँखें होते ही वह लज्जा के कारण ठिठक-सी गई। अभ्यागतों की सेवा का अयाचित अवसर पाकर वह सरल भाव से आगे बढ़ी।

दोनों युवकों में से एक ने पूछना आरम्भ किया—तुम

कौन हो ? मानवी या देवी ? इस निर्जन जंगल में अकेले रहने का क्या कारण है ?

'मैं मानवी हूँ, सम्राट् शर्यात मानव की एकमात्र राजकुमारी तथा च्यवन भार्गव की पाणिगृहीती भार्या। अपने पतिदेव की सेवा के लिए इस निर्जन वन का निवास मैंने ग्रहण किया है'—सुकन्या ने आगन्तुक के प्रश्न के उत्तर में कहा।

'परन्तु क्या तुम आश्रम के योग्य हो ? कमल के जीवन की सफलता राजा के गले में हार बनकर रहने में ही होती है, सून-सान जङ्गल में सूखकर काँटा बनने में नहीं; तुम्हारी काञ्चनमयी काया को वल्कल उसी भाँति दूषित कर रहे हैं जिस प्रकार स्फुटचन्द्रतारका विभावरी को अरुण का आकालिक उदय।

'तुम्हारे निर्मम पिता के क्रूरहृदय की बात सोचकर मेरे रोंगटे खड़े हो रहे हैं जिसने इस वृद्ध के गले में तुम्हें डालकर घोर अन्याय किया है तुम्हारे नैसर्गिक सौन्दर्य तथा प्रेमपूरित हृदय के प्रति ! जीर्ण-शीर्ण गात्र, माथे पर पड़ी झुर्रियाँ, चँवर के समान श्वेत बाल, दन्तविहीन पोपला मुँह,—प्रेम का विराट् अट्टहास !!! च्यवन की तमोमयी जीवनसन्ध्या है और तुम्हारे जीवनप्रभात का अभिराम अरुणोदय है। इस वृद्ध का परित्याग कर हममें से किसी एक को वरण कर अपने शेष जीवन को आनन्द से बिताओ"—अश्विनी कुमार ने कहा।

वक्ता के रूप को भली भाँति पहचान कर सुकन्या ने कहना आरम्भ किया—भगवन् नासत्यौ, आपके मुख से यह प्रार्थना ! चन्द्रिकामण्डित रमणीय शान्त आकाश से आकालिक वज्रपात !!

च्यवन महर्षि हमारे पूज्य पतिदेव हैं, इनकी सेवा ही मेरे जीवन का एकमात्र महनीय व्रत है। भारतीय ललनाएँ कभी बाह्य चाकचिक्य, ऊपरी आडम्बर, पर मुग्ध नहीं होतीं। वे तो हृदय को पहचानती हैं। परिणय पति-पत्नी के हृदय को प्रेम-पाश में बाँधने वाला एक अच्छेद्य बन्धन है। पतिसेवा मेरा परम धर्म है। पति की अवस्था तथा उसका रूप कथमपि नियामक नहीं है।

सुकन्या के इस उत्तर से अश्विनीकुमार को नितान्त परितोष हुआ। सुकन्या अपने पातिव्रत की परीक्षा में पूरी उतरी। अमरवैद्य अश्विनीकुमार ने च्यवन के साथ पुष्कर में गोता मारा। बाहर निकलते ही अतुल आश्चर्य! दो के स्थान तीन अश्विनीकुमार—एक समान सुहावना रूप, एक दूसरे के नितान्त प्रतिरूप। सुकन्या ने इस घटना को देखा और इन नवीन रूप में भी अपने पति को पहचानते उसे देर न लगी। वसन्त में सहकार को अतिमुक्तलता ने स्वीकार किया। आश्रम खिल उठा।

च्यवन ने अश्विनीकुमार के इस अलौकिक व्यापार को देखा। आनन्द से उनका हृदय गद्गद हो उठा, उनके माथे से बुढ़ापे की कालिमा मिटी, यौवन की आभा फूट चली। प्रत्युपकार की आशा से उनका मस्तक ऊँचा उठ गया और उन्होंने मन ही मन प्रतिज्ञा की कि अश्विनीकुमार को सोमपीथी (सोमरस पीने का अधिकार) बिना बनाए हुए वे कभी अपने हृदय में शान्ति-बोध नहीं करेंगे।

च्यवन को यौवनप्राप्ति का समाचार राजा शर्यात के कानों तक पहुँचा। इन आश्चर्यजनक घटना को स्वयं देखने तथा अपने

जामाता और कन्या के अभिनन्दन करने के लिए वे स्वयं च्यवन के आश्रम में पधारे। महर्षि के इस रूपपरिवर्तन को देखकर उनके आश्चर्य को सीमा न रही। च्यवन ने अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति का अवसर देखकर राजा से एक विराट यज्ञ का आयोजन करवाया।

५

आज शर्यात की राजधानी में खूब उत्सव मचा हुआ है। आज सोमयाग का प्रमुख 'सुत्या' दिवस है। ऋत्विजों के द्वारा सोम का अभिस्रवण किया गया। ऊर्णा के बने पवित्र से उसे छान कर द्रोणकलश में उसे रखा गया तथा विशुद्ध गोदुग्ध उसमें मिलाया गया। ग्रह (पात्र) में स्थापित सोमरस के पान के लिए देवगण लालायित हो उठे। इन्द्र अपनी मण्डली के साथ सोमपान के लिए उपस्थित होकर यज्ञ को शोभा बढ़ा रहे थे। भिन्न भिन्न देवताओं के लिए सोमग्रह स्थापित कर दिये गए। ऋषि ने अपनी पूर्वदत्त प्रतिज्ञा के अनुसार सोम से परिपूर्ण ग्रहों को अश्विनीकुमार को समर्पण किया। देवमण्डली में कोलाहल मच गया।

मण्डली के प्रमुख इन्द्रराज ने च्यवन को ललकार कर कहा—महर्षे, आप यह कौन सा नवीन मार्ग चलाना चाहते हैं। नासत्यौ को सोम का अर्पण! एकदम नई बात! प्राचीन परम्परा का इतना विषम तिरस्कार!!! अश्विनीकुमार हमारे भिषज् अवश्य हैं, परन्तु दिन रात रोग के निदान तथा चिकित्सा में व्यस्त रहने के कारण उन्हें देवसुलभ विद्याओं के उपार्जन तथा अध्यात्मचिन्तन का अवसर कहाँ? वे देवत्व से नितान्त

च्युत हैं। मनुष्यों की भी चिकित्सा में उनका लगा रहना हमारी दृष्टि में उन्हें हेय बनाने का एक अन्य कारण है।

च्यवन भार्गव ने देवराज की यह बात सुनी, परन्तु उन्हें अपने कानों पर विश्वास न होता था कि इतनी घृणित तथा स्वार्थपूर्ण बात किसी सात्त्विक देवता के मुख से निकल सकती है। देवताओं की भरी मण्डली में वे इन्द्र के समक्ष गम्भीर मुद्रा में बोलने लगे—देवगण, आज मैं अपने उपकारी अश्विनी-कुमार के पक्ष को लेकर नहीं बोल रहा हूँ, प्रत्युत उस विद्या की महत्ता को प्रकटित करना चाहता हूँ जिसके बल पर सारी सृष्टि का कल्याण साधन हो रहा है। आयुर्वेद विद्या क्या हमारी अवहेलना की पात्री है ? क्या जगत् के मंगलकारक प्राणाचार्य हमारे तिरस्कार के भाजन हैं ? शरीर ही धर्म का आद्य साधन है।

शरीर के विकृत होने पर क्या अध्यात्म का चिन्तन सुलभ हो सकता है ? शरीर को रोगों से उन्मुक्त रखना भारी कला है। अश्विनीकुमार की शल्य-चिकित्सा की प्रशंसा शब्दों में नहीं कही जा सकती। उन्होंने मधुविद्या के ग्रहण करने के लिए दध्यङ् आथर्वण ऋषि के शिर पर अश्व का मस्तक जमा रखा था और ग्रहण के अनन्तर आपने जब वह सिर काट डाला, तब असली सिर फिर से जोड़ दिया। विश्पला नामक युवती के टूटे हुए जंघे की जगह लोहे की बनी (आयसी) जंघा जोड़ दिया। उनके उपकारों की परम्परा को कौन सहृदय भूल सकता है ? अगाध समुद्र के भीतर जहाज के छिन्न भिन्न होने से डूबने वाले, राजर्षि तुग्र के पुत्र 'भुज्यु' को इन्होंने बचाकर

किनारे लगाया । जब दैत्यों ने पुत्रपौत्र के साथ महर्षि अत्रि को गाढ़ अन्धकार में कारागृह में बन्द कर मार डालने का उद्योग किया था, तब इन्होंने महर्षि के प्रिय प्राणों की रक्षा की थी । अपने पिता वृषागिर के द्वारा अन्धे कर दिये गए राजा ऋज्राश्व को नेत्रदान कर नासत्यों ने जो उपकार किया है, क्या उसका बदला चुकाया जा सकता है ? देवाधिदेव ! देव तथा मानव का परस्पर सहयोग एक स्पृहणीय वस्तु है । यदि देव मानव के सुख दु:ख में सहानुभूति भी नहीं दिखलाता, तो किस हेतु वह उसकी सहानुभूति पाने का इच्छुक बना हुआ है ? मुझे अश्विनी-कुमार सा परदु:खकातर देवता दृष्टिगोचर नहीं होता । आज से संसार आयुर्वेद के महत्त्व को समझे । अत: मैं दोनों अश्विनों को सोमपीथी अवश्य बनाऊँगा । सामर्थ्य हो तो कोई मुझे रोके ।

यज्ञमण्डप में घोर निस्तब्धता छा गई । देववृन्द एक दूसरे का मुख देखने लगे । महर्षि च्यवन ने ज्योंही सोमग्रह अश्विन् के सामने रखा, त्योंही इन्द्र ने अपने वज्रप्रहार से उनके हाथ काट डालने के लिए अपना तीव्र आयुध उठाया । ऋषि के कल्याण के लिये शर्यात विचलित हो उठे, परन्तु उनकी अशान्ति शीघ्र कौतुक के रूप में बदल गई । इन्द्र के बाहु अचानक स्तम्भित !!! बाहुस्तम्भन के साथ ही साथ च्यवन ने विधिवत् अभिचार मन्त्रों से अग्नि में आहुति दी जिससे 'मद' नामक महाकाय महावीर्य असुर की सद्य: उत्पत्ति हुई । पर्वतसन्निभ बाहु, प्रसादशिखराकार दशयोजन आयत दीर्घ दंष्ट्रा, सूर्य-चन्द्र के समान नेत्र, कालाग्नितुल्य मुख, विद्युच्चपल लोल जिह्वा, प्रलय-काल के मेघ के समान गर्जन करता हुआ वह दानव इन्द्र को

अपनी उदरदरी के भीतर करने के लिये ज्यों ही आगे बढ़ा, देवराज वायुविकम्पित वृक्ष के समान काँपने लगे और लगे ऋषि को मनाने—महर्षे, आपका कथन सत्य हो, मुझे कोई भी आपत्ति नहीं है। इस कृत्या को शीघ्र दूर कीजिए। 'तथास्तु'। च्यवन का क्रोध शान्त हुआ। मद का सुरापान, स्त्री, मृगया तथा द्यूत में पृथक् विभाग कर कृत्या को उन्होंने तुरन्त हटा दिया।

सोमयाग सानन्द समाप्त हुआ। शर्यात मानव की अभिलाषा पूर्ण हुई। सुकन्या ने अपने पातिव्रत के बल पर पति का मंगल साधन किया। नासत्यौ ने सोमरस का पान कर अपने को धन्य माना। उपस्थित जनता ने आश्चर्यभरे नेत्रों से च्यवन भार्गव के महनीय प्रभाव तथा अतुल आध्यात्मिक बल को देखा। सच्चे तपस्वी के अन्तर्बल को प्रत्यक्ष देखकर संसार ने तपस्या के महत्त्व को समझा। महर्षि च्यवन के चरणों पर जगत् नतमस्तक हो गया।
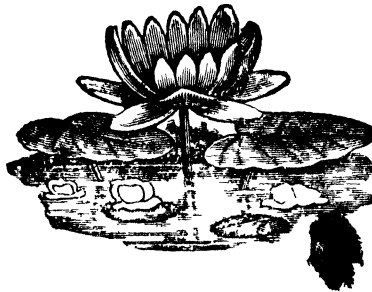
पुरस्कार

१

प्रतिष्ठानपुर में राजमहल के सोने के बने कँगूरे बालसूर्य की प्रभा के पड़ने से चमक रहे थे। दर्शकों की आँखें उनपर पड़ते ही चकाचौंध हो जाती थीं। उपवन में खिले हुए फूलों की सुगन्ध से सनी हवा मन्द मन्द बह रही थी। पतितपावनी त्रिवेणी प्रसादतल को अपने शीतल जल से धोती हुई द्रुतगति से बह रही थी। कञ्चन के बने कँगूरे जलराशि में प्रतिबिम्बित होकर जल के वेग के कारण नाना प्रकार के आकार धारण कर रहे थे। जिधर दृष्टि जाती, उधर ही सजावट से नेत्र शीतल हो जाते थे। प्रत्येक वस्तु में उल्लास दीख पड़ता था, प्रत्येक स्थान पर सजावट की चमक-दमक थी। प्रजावृन्द का हृदय अलौकिक आनन्द से विभोर हो रहा था और सब से अधिक आनन्द उछल रहा था राजा पुरूरवा के हृदय में। प्रजाओं के नेत्रों में अपनी साम्राज्ञी के निमित्त कौतुकपूर्ण हर्ष झलक रहा था और राजा पुरूरवा के हृदय में अपनी प्रियतमा उर्वशी के सत्कार के लिए आनन्द का सागर हिलोरें ले रहा था।

आज इस सुहाने प्रातःकाल में उर्वशी के स्वर्ग लोक से भूतल पर आगमन का सुवर्ण अवसर है। उसीकी प्रतीक्षा में

प्रतिष्ठानपुर के महाराज ऐल पुरूरवा तथा उनके प्रजावर्ग उत्सुकता की भव्य मूर्ति बने बैठे हैं।

× × ×

महाराजाधिराज पुरूरवा ऐलवंश के प्रवर्तक मानी महापति हैं। शरीर में यौवन का उमंग है और मुखमण्डल पर सौन्दर्य की स्निग्धता है। शरीर पर कवच धारण कर जब वे रणभूमि में पदार्पण करते हैं तब उनकी शौर्यमूर्ति किस पराक्रमी शत्रु के हृदय में आतङ्क पैदा नहीं करती? प्रजा का अनुरञ्जन उनके जीवन का व्रत था। प्रजाओं को उस मंगलमय दिन की स्मृति अब तक बिलकुल बनी हुई है जब उनका अभिषेक उन्हीं के प्रतिनिधियों के हाथों सम्पन्न हुआ था। उदुम्बर की बनी आसन्दी (सिंहासन) पर व्याघ्रचर्म का आसन बिछा हुआ था। उसी पर सर्वौषधि से स्नान कर वे बैठे थे और प्रजाओं की प्रत्येक श्रेणी का प्रतिनिधि उनके सामने आकर खड़ा होता था और उन्हें साम्राज्य के अधिकार से विभूषित करता था। साथ ही अपनी रक्षा का भार उनके सुपुर्द करता था। प्रजा को वह अवसर भूला नहीं है जब जनमण्डली में से पुरोहित ने आगे बढ़ कर राजा से प्रतीज्ञा कराई थी कि जिस दिन से आप पैदा हुए हैं और जब तक आप इस भूतल को सुशोभित करते रहेंगे, तबतक जितने सुकृत आपने किये हैं उन पुण्यकर्मों का फल सदा के लिए ध्वस्त हो जायगा यदि आप इस प्रजावर्ग के रक्षण से तनिक भी विचलित होंगे। और राजा ने अपने उत्तरदायित्व का पूरा विचार करते हुए उस प्रतिज्ञा को गम्भीर मुद्रा में दुहराया था। इस प्रकार पुरूरवा

प्रजाओं को नाना कामनाओं के प्रतीक थे । उन्हें पाकर प्रतिष्ठानपुर की प्रजा आनन्द से फूल उठी थी । राजा उनके हितसाधन में संलग्न था और प्रजामण्डली अपने महीपति के कल्याण साधन में जी जान से जुटी थी ।

पुरूरवा की कीर्तिकौमुदी ने इस भूतल को ही अपनी प्रभा से धवलित तथा स्निग्ध नहीं बनाया था, प्रत्युत वह स्वर्गलोक के प्रत्येक स्थान में प्रतिबिम्बित हो उठी थी । अमरावती के अमराधिप महाराज इन्द्र के निमन्त्रण पर राजा स्वयं उनकी सभा में उपस्थित होता था और अपने वदनारविन्द की स्निग्धता से अमर ललनाओं के हृदय में भी लालसा के रस का संचार करता था । उस दिन स्वर्ग लोक की अनुपम सुषमा और कला उर्वशी के रूप में प्रगट हुई थी। उर्वशी स्वर्गलोक की मधुमय श्रृंगार थी और स्वर्ग-साम्राज्य के लोलुप तापसों को गन्तव्यपथ से दूर हटाने वाला सुकुमार अस्त्र थी । जिन साधकों के ऊपर हिंसा की आशङ्का से देवराज अपने वज्र को चलाने में कुण्ठित होते थे, उनके ऊपर निःशङ्क भाव से इस ललाम ललना अस्त्र का प्रयोग कर वे अपने मनोरथ को अनायास सिद्ध कर लेते थे । इन्द्रपुरी के विशाल प्रासाद में उस रात को ऊर्वशी का अभिराम अभिनय होने वाला था । आकाश में सुधाधर अपनी सोलहों कलाओं से चमक रहा था । उसकी सुधामयी ज्योत्स्ना समग्र अमरावती को रस-स्निग्ध बना रही थी । अप्सरा-मणि उर्वशी के शरीर से प्रकाश का फौवारा फूट रहा था । कला ने उसकी वेश-भूषा को अपनी ओर से इतनी स्वाभाविक अभिरामता प्रदान की थी कि दर्शकों के नेत्र जिस अंग पर जम जाते थे

वहाँ से हटने का नाम भी न जानते । उर्वशी के शरीर में यौवन की स्निग्धता थी और उसके गायन में कठोर हृदय को भी रसमय बना देने की शक्ति थी । गले में एक विचित्र लोच था; भाव प्रकट करने में हाथों में विचित्र विन्यास चातुरी थी। देवराज की सभा आनन्द के झकोरे में मस्त झूम रही थी। राजा पुरूरवा का हृदय हर्ष के हिलोरे पर चढ़ा आन्दोलित हो रहा था । उर्वशी और पुरूरवा की चार आँखें हुईं। हृदय ने अपनी गूढ़ वेदना को नेत्र के झरोखे से प्रकट किया । हृदय ने हृदय को पहचाना। मानव अप्सरा के प्रेम के लिए बेचैन बन गया।

राजा ने उर्वशी से देवलोक को छोड़कर मानवलोक में चले आने का प्रस्ताव किया—यह स्वर्गलोक निरवच्छिन्न भोग-विलास की एक दीर्घ परम्परा है, सदा एक रंग; सदा एक रस; सर्वत्र मधुरिमा; सर्वत्र वसन्त का उन्मादक रूप। भला, इसमें कहीं सच्चे आनन्द का अनुभव मिल सकता है ? विषाद की अनुभूति के बिना हर्ष की प्रचुरता का बोध नहीं होता—विरह की वेदना को बिना जाने संयोग की रसमाधुरी फीकी जान पड़ती है। हमारे मर्त्यलोक में विचित्रता का राज्य है, उसमें एकरसता नहीं । आज दुःख के आँसू बहते हैं तो कल सुख के आँसू बरसते हैं । हर्ष-विषाद, सुख-दुःख, सम्पत्-विपत्—का यह अनोखा मेल मर्त्यलोक की विशेषता है। अप्सरा ने राजा की मीठी बातें सुनीं । वह स्वर्ग की एकरसता से ऊब गई थी । वह मानव के साथ प्रेम गाँठ बाँधना चाहती थी और मर्त्यलोक की विचित्रता का आस्वाद लेना चाहती थी;

परन्तु उसने राजा के सामने तीन शर्तें की—वह सदा घृत का ही आहार किया करेगी; उसके प्यारे दोनों मेष सदा उसकी चारपाई के पास बँधे रहेंगे जिससे कोई उन्हें चुरा न सके और तीसरी बात सब से विकट थी कि यदि वह राजा को किसी भी अवस्था में नग्न देख लेगी तो वह एक क्षण में वहाँ से गायब हो जायगी। राजा ने शर्तें मान ली। मानव तथा दिव्याङ्गना का प्रथम समागम सम्पन्न हुआ। प्रतिष्ठानपुर की प्रजा अपनी साम्राज्ञी के दर्शन से आनन्दित हो गई।

२

उर्वशी की आनन चन्द्रिका के अस्त होते ही देवलोक विषाद के गाढ़ अन्धकार में डूब गया। नन्दनवन में वसन्त आया, परन्तु लताओं ने विकसित सुमनों से उसका स्वागत न किया। रसाल वृक्षों में मञ्जरी लगी परन्तु उसमें सरसता न थी। कोकिल बोलती थी परन्तु उसकी काकली में कलकण्ठ कामिनियों को लजाने की योग्यता न रही। माधवी लता के साथ दक्षिण पवन अठखेलियाँ करने का साहस करता, पर इसमें जीवन न था। जलाशयों में खिले कमलों पर रसलोभी मधुप अपना मधुर गुंजार करते, परन्तु उसमें रसिकों के हृदयों को खींचने की शक्ति जाती रही। मधु था, परन्तु मादकता न थी। उर्वशी स्वर्गलोक की प्राण थी। उसके हटते ही वह मञ्जुल देश: निःसार, निर्जीव तथा नीरस बन गया। गन्धर्वों से यह दृश्य देखा न गया। उर्वशी को मर्त्यलोक से लौटा लाने का उपाय निकाला गया। मध्यरात्रि को गन्धर्व लोग एक मेष को महल से चुराकर आकाश

में ले गए; उसकी करुण पुकार उर्वशी ने सुनी और सहायता के निमित्त चिल्ला कर रोने लगी। परन्तु राजा एकदम चुप था। दूसरे मेष की आवाज सुनते ही अपने को निराश्रय, निरालम्ब तथा अनाथ कह कर वह फूट फूटकर रोने लगी। राजा उन्मत्त सा हो गया और अपनी नग्नता पर बिना ध्यान दिये वह गन्धर्वों के पीछे दौड़ पड़ा। वे लोग तो इसी अवसर की प्रतीक्षा में थे ही। उस कालिमा में बिजुली एक बार चमक उठी। राजा का विवस्त्र शरीर अप्सरा की आँखों के सामने प्रकट हो गया। प्रतिज्ञानुसार वह उसी क्षण अन्तर्हित हो गई। मेषों को वापस लाकर पुरूरवा विजय लक्ष्मी के पाने से प्रसन्न-वदना अप्सरा के स्वागत का अभिलाषी था, वहाँ सूनी सेज ने अपने विकट हास्य से उसका अभिनन्दन किया। देवाङ्गना के वियोग से मानव व्याकुल हो गया।

३

कुरु देश में एक रमणीय जलाशय था। स्फटिक के समान निर्मल जल चमक रहा था। पानी की बूँदें मोती के समान दर्शकों के नेत्रों को स्निग्ध बनाती थीं। उसमें नाना रंगों के, रंग-बिरंगे कमल वायु के झोंकों से झुक झुककर अपना सौरभ चारों ओर बिखेर रहे थे। उसमें पाँच श्वेतकाय हंसी कमलपत्रों की छाया में ललित क्रीडायें कर रही थीं।

उर्वशी की खोज में पुरूरवा उसी तडाग के पास पहुँचा। हंसियों को देखते ही उसने अपनी प्रियतमा को पहचान लिया। प्रेम का प्रभाव ही विचित्र होता है। सच्चे प्रेमियों का हृदय

बाहरी आवरण को हटाकर तुरन्त एक दूसरे को पहचान लेता है। हंसी का आकार धारण करने पर भी उर्वशी को अपने प्रियतम को पहचानते देर न लगी। दोनों अपने हृदय की भावना शब्दों के द्वारा प्रकट करने लगे:—

पुरूरवा—हे प्रियतमे, मैं कभी नहीं जानता था कि तुम्हारा हृदय इतना कठोर है। जहाँ मैं रत्न पाने की आशा रखता था, वहाँ मुझे जलता हुआ अंगारा ही हाथ आया। आवो, तुम्हारे कोमल शब्दों को सुनकर मैं अपना हृदय तृप्त करूँ।

उर्वशी—अब बातचीत करने से क्या लाभ? उषाओं के बीच पहली उषा के समान मैं तुम्हारे पास से तुरन्त भाग खड़ी हुई। घर लौट जाइए। मेरा पाना उतना ही कठिन है जितना वायु को पकड़ना।

पुरूरवा—तुम्हारे चले जाने का मुझे सचमुच बड़ा दुःख है। तरकस से निकले हुए बाण की भाँति तथा विजय के लिए संग्राम में दौड़नेवाले वाजी की तरह तुम मेरे महल से झट चली आई हो। यह सारा काम गन्धर्वों की माया थी। उन्होंने विपत्ति में पड़े हुए मेषों के चिल्लाने की आवाज स्वयं की थी। बिजुली का चमकना भी गहरा धोखा था। उन लोगों ने सजग होने पर भी हमें ठगा है।

उर्वशी—प्रिय, मैं आपके उन प्रेममय आलिंगनों को कभी नहीं भूल सकती। मेरे साथ वह स्निग्ध व्यवहार, प्रति दिन तीन बार आलिंगन, सदा घृत भोजन की व्यवस्था—सब कुछ मेरे आनन्द के लिए था। मैंने आपकी इच्छा के आगे अपना समर्पण किया था। आप मेरे शरीर के अधिपति थे।

पुरूरवा—सुजूर्णि, श्रेणि, सुम्नेआपि, ह्रदेचक्षु, ग्रन्थिनी, चरण्यु—इन देवाङ्गनाओं का कपट मैं कभी भूल नहीं सकता। ये बिजुली की चमक ठहरीं जिनके द्वारा मैं अपने प्यारे मेष का उद्धार करना चाहता था, परन्तु ये तो बड़ी कपटी निकलीं। लाल रंग की गायों के समान ये मुझ से भाग गईं और अपने बछड़ों के लिए रंभानेवाली धेनुओं की तरह गड़गड़ाने का घनघोर शब्द करने लगी।

उर्वशी—आपके ऊपर देवताओं की महती अनुकम्पा है दस्युओं के मारने के लिए आपका जन्म हुआ है, परन्तु अप्सरा की आसक्ति ने आपको कर्तव्यच्युत बना दिया।

पुरूरवा—बिल्कुल ठीक। मानव अप्सरा के लिए सर्वस्व अर्पण करने को तैयार रहता है, परन्तु ये अप्सरायें मानव के प्रेम का तिरस्कार करती हुई उसी प्रकार भाग जाती हैं जिस प्रकार मृगी तथा रथ में जोता गया घोड़ा।

उर्वशी—इसमें आश्चर्य क्या है? मर्त्य इन अमर्त्य ललनाओं को आपका हृदय क्यों बेंचता है? ये उन हंसियों के समान हैं जो अपना सुन्दर रूप दिखला कर प्राणियों को लुब्ध करती हैं और क्रीड़ा करने वाले घोड़ों की तरह अपना खेल दिखला कर भाग खड़ी होती हैं।

पुरूरवा—अच्छा मुझे अपने कार्यों पर आप ही ग्लानि होती है। मैं उस दिन की प्रतीक्षा में हूँ जब तुम्हारी गोदी को मेरा पुत्र भरेगा और अपनी मन्द मुसुकान से तुम्हारे घर को आनन्दित रहेगा।

उर्वशी—आप उसके लिए चिन्तित मत होईए। मैं स्वयं

उसकी आँखों से आँसुओं को पोंछ कर उसे प्रसन्न करूँगी। मेरी सेवा के आगे वह आपकी तनिक चिन्ता न करेगा।

राजा को उर्वशी के ये वचन बड़े ही निष्ठुर प्रतीत हुए। वह तो प्रेम का भिखारी ठहरा। उर्वशी के आगे स्थायी प्रेम की भिक्षा माँगने आया था, परन्तु उसे मिला केवल उपालम्भ। उसने आत्महत्या करने का निश्चय किया जिससे संसार के झंझटों से सदा के लिए दूर हट कर वह निर्ऋति की गोद में सुख की नींद सोवे। इस विचार को सुनते ही उर्वशी एक बार चौंक पड़ी और सदयभाव से बोल उठी—तुम्हारा यह आचरण नितान्त गर्हित है। भला, यह भी किसी सत्पुरुष का काम है—आत्महत्या। आत्महन्ता की बड़ी दुर्गति होती है। वह उन लोकों में जाता है जहाँ सूर्य की किरणें कभी नहीं चमकतीं और जहाँ घना अन्धकार अपना प्रभाव सदैव जमाये रहता है। तुम स्त्रियों के चरित्र से परचित नहीं हो। उनके साथ कभी मित्रता हो ही नहीं सकती, क्योंकि उनका हृदय भेड़िये के हृदय की तरह क्रूर तथा कुटिल हो जाता है।

४

पुरूरवा प्रेम की परीक्षा में उत्तीर्ण हो गया। उसकी प्रेमिका ने उसे उस मार्ग से दूर हटने के लिए स्वयं आग्रह किया। स्त्री-प्रेम की पर्याप्त निन्दा की, परन्तु राजा अपनी प्रतिज्ञा से डग भर भी नहीं हटा। गन्धर्वों से राजा का कार्पण्य अब अधिक न देखा गया। उन्हीं लोगों ने तो उसे प्रेम से वञ्चित किया था। राजा का प्रेम नितान्त विशुद्ध, उन्नत तथा उदात्त था,

तभी तो वह उर्वशी के वाक्य प्रहारों की चोट सहकर भी विचलित नहीं हुआ। गन्धर्वों को दया आई। उन्होंने राजा के हाथ में अग्नस्थाली रखकर तपस्या तथा याग करने की आज्ञा दी। राजा ने उपदेश को मान लिया।

राजधानी की ओर आते समय उसे एक बीहड़ जंगल से होकर पार जाना था। उसे कुछ वैराग्य उत्पन्न हो गया। सोचा—सामने रहकर भी उर्वशी वशीभूत न हुई, तो यज्ञ के अनुष्ठान से वह अपना हृदय मुझे देगी, इसकी मुझे तनिक भी आशा नहीं है। राजा ने उस अग्निस्थाली (अग्निपात्र) को उसी जंगल में छोड़ दिया। घर आने पर अपनी करतूत पर उसे लज्जा आई। व्यर्थ ही एक परीक्षित दैवी उपाय को हाथ से जाने दिया।

प्रातःकाल हुआ। वह तुरन्त अकेला ही उस जंगल में पहुँचा, जहाँ उसने वह अग्निस्थाली रख छोड़ी थी। पर अग्नि शान्त था। केवल पीपल तथा शमी के वृक्ष अपने सघन पत्तियों को हिलाते हुए खड़े थे। राजा इन दोनों की शाखायें अपने साथ लाया और अग्निमन्थन कर अग्नि को उत्पन्न किया। यज्ञ के लिए एक अग्नि को उसने तीन अग्नियों के रूप में विभक्त किया—आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि। यज्ञ के विधिवत् अनुष्ठान से फल सद्यः मिला। पुरूरवा को उर्वशी का मधुमय संगम सदा के लिए प्राप्त हो गया।

तभी से त्रेता अग्नि की प्रतिष्ठा इस लोक में हुई। पुरूरवा त्रेता अग्नि के इस लोक में प्रथम संस्थापक हैं। उनके इस कार्य को क्या हम लोग किसी प्रकार भुला सकते हैं?

अधिकार

१

प्राची क्षितिज पर भगवान् भास्कर की सुनहली किरणें जगत् के ऊपर एक स्वर्णमयी आभा फैला रही थीं। समीर मंद गति से बह रहा था। क्यारियों में उगे नाना रंग के फूल धीरे धीरे झुक झुक कर प्रभात का स्वागत कर रहे थे। तपोवन की शोभा निखरी हुई थी। आश्रम के वृक्षों के पत्तों का धूमिल रंग यागधूम के अनवरत विस्तार की शुभ सूचना दे रहा था। महर्षि दध्यङ् आथर्वण प्रातःकाल के इस सुहावने दृश्य को उत्फुल्ल लोचनों से देख रहे थे। उनकी दृष्टि में अतृप्ति का भाव झलक रहा था। भविष्य की किसी आकस्मिक घटना की छाया उनके आनंदमग्न मुखमण्डल के ऊपर चिंता की विषादमयी रेखा धीरे धीरे खींच रही थी। इतने में उनकी दृष्टि एक आगंतुक के ऊपर जाकर ठिठक रहीं। वे उस आश्रम के कुलपति थे। दश सहस्र विद्यार्थियों को विद्या-दान देते थे। वे प्रत्येक छात्र के नाम तथा काम से पूरे परिचित थे। इसी मण्डली में एक अपरिचित व्यक्ति को देखकर उनका आश्चर्य सीमा को पार कर गया। उस आगन्तुक से उन्होंने गम्भीर स्वर में पूछा—आप कौन हैं ?

'मैं एक जिज्ञासु अतिथि हूँ'—आगन्तुक ने उत्तर दिया।

'इस तपोवन में आपके आगमन का क्या प्रयोजन ?'

'इस प्रश्न का उत्तर मैं अभी दूँगा। कृपया अतिथि के मनोरथ को पूर्ण कर देने की आप प्रतिज्ञा कर दें।'

महर्षि ने अपनी स्वीकृति दे दी। आगन्तुक अपना परिचय तथा प्रयोजन की बातें कहने लगा—महर्षे ! मैं देवताओं का राजा इन्द्र हूँ। मैंने आपकी विद्वत्ता की बातें पहले से सुन रखी हैं। आपके समान ब्रह्मवेत्ता पुरुष इस भूतल पर नहीं है। परमतत्त्व के साक्षात्कार के कारण आपका जीवन धन्य है। इतने विद्यार्थियों को आप नाना शास्त्रों की शिक्षा देकर जगत् का मंगल साधन कर रहे हैं। उस परमतत्त्व के स्वरूप को भली भाँति समझने की जिज्ञासा मुझे स्वर्गलोक से इस भूतल पर खींच लाई है। इस गूढ़ रहस्य की शिक्षा देकर मुझे कृत-कृत्य बनावें तथा देवराज को अपना शिष्य बनाकर स्वर्लोक में भी आप अपनी कीर्ति का विस्तार करें।

दध्यङ् आथर्वण का चित्त चञ्चल हो उठा। उनके सामने एक विषम समस्या आ खड़ी हुई। अतिथि के मनोरथ को पूरा करने की उन्होंने पहले ही प्रतिज्ञा कर रखी थी, इसके निर्वाह न करने से सत्य व्रत का भङ्ग होगा। और यदि इन्द्र को ब्रह्मज्ञान का उपदेश करते हैं, तो अनधिकारी को शिक्षा देने का दोष गले पतित होता है।

२

अधिकार का प्रश्न बड़ा विषम हुआ करता है। शास्त्र के संरक्षण, विद्या के सदुपयोग के लिए ही अधिकारी की व्यवस्था की गई है। योग्य व्यक्ति को शिक्षा देने पर ही वह शिक्षा

फलवती होती है, अन्यथा लाभ की अपेक्षा हानि की ही अधिक सम्भावना बनी रहती है। यही कारण है कि प्राचीन काल में विद्वान् गुरुजन अधिकारी शिष्य की खोज में अपना जीवन बिता देते थे। बिना अधिकारी पाये वे अपने शास्त्र का रहस्य किसी भी व्यक्ति को नहीं देते थे। ब्रह्मज्ञान के उपदेश से बढ़कर दूसरा उपदेश हो ही क्या सकता है? उसके निमित्त साधनचतुष्टय से सम्पन्न व्यक्ति की बड़ी आवश्यकता है। जो व्यक्ति नित्य तथा अनित्य वस्तु के विवेक को जानता है, जिसे इस लोक तथा परलोक के भोगों में सच्चा वैराग्य है, जिसने इन्द्रियों तथा मन के ऊपर पूरे तौर से विजय पा ली है वही प्रपञ्च से मुक्ति का अभिलाषी साधक इस उच्च उपदेश के रहस्य के सुनने का अधिकारी होता है। परन्तु क्या इन्द्र में इन गुणों की सत्ता है? जिसके हृदय को कामवासना ने अपने अधिकार में कर रखा है तथा शत्रु को अपने अदम्य वज्र से मार भगाना ही जिसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य है, भला उस व्यक्ति के अशान्त हृदय को ब्रह्मज्ञान की शिक्षा क्योंकर शान्ति प्रदान कर सकती है? इस उच्चतम उपदेश का वह कथमपि अधिकारी नहीं है।

दध्यङ् आथर्वण की विचारधारा इसी प्रकार प्रवाहित हो रही थी, परन्तु अपनी प्रतिज्ञा के पालन के उद्देश्य को सामने रखकर उन्होंने इन्द्र को मधुविद्या का उपदेश देकर यह कहना आरम्भ किया—'भोग की लिप्सा प्राणी के हृदय में उसी प्रकार अनर्थकारिणी है जिस प्रकार फूलों के समूह में छिपी हुई साँपिन। योगमार्ग का आश्रय लेने के लिए भोग का बहिष्कार करना ही पड़ेगा। स्वर्गभूमि का वह अनुपम भोग भी किस मतलब का?

नन्दनवन की वह सुगमता, स्वच्छ फेन के समान रमणीय शय्या, नाना प्रकार के स्वादिष्ठ भोजन-पदार्थ—इनके सेवन से भला कभी हृदय में सन्तोष का उदय हो सकता है ? श्रेय और प्रेय का मार्ग परस्पर विरोधी है। प्रेय का अवलम्बन सदा अनर्थकारक तथा क्षणभंगुर है। श्रेय का ही अवलम्बन कल्याण-कारण मार्ग है। भोग की लिप्सा के विचार से देवताओं के अधिराज इन्द्र तथा भूतल के निकृष्ट पशु कुत्ते में क्या कुछ अन्तर है ? इस दृष्टि से दोनों एक समान हैं। इस भोग—आसक्ति—के भाव को हृदय से दूर कीजिए, तभी निःश्रेयस की उपलब्धि हो सकती है।'

इन वचनों को सुनकर देवराज का क्रोध अपनी सीमा को पार कर गया। उन्हें स्वप्न में भी ध्यान न था कि कोई भी व्यक्ति उनकी समता कुत्ते के साथ करेगा। कहाँ उसका नितान्त उत्कृष्टपद ! और कहाँ इतनी भद्दी तथा अनुचित समता ! देव-पद का इतना घोर तिरस्कार ! महर्षि के इन अपमानसूचक शब्दों का सुनना उनके लिए असह्य हो उठा। वे उन्हें मार डालने के लिए उद्यत हो गए, परन्तु उन्हें अपना ज्ञानोपदेशक मानकर अपने विचार को दबा देना पड़ा। वे आन्तरिक क्रोध को अधिक देर तक छिपा न सके। बोले—यदि आप इस विद्या का उपदेश किसी भी अन्य व्यक्ति को करेंगे, तो समझ रखिये, आप अपने धड़ के ऊपर इस सिर को न पावेंगे। आपका सिर धड़ से पृथक् पृथ्वी पर लोटता दीख पड़ेगा।

दध्यङ् आथर्वण ने शान्तमन से इस अभिशाप को सुना। चिकने घड़े के ऊपर पानी के समान इन वचनों का प्रभाव

उनके ऊपर तनिक भी न पड़ा। इन्द्र के विस्मय का ठिकाना न था। ब्रह्मज्ञानी आथर्वण हिमालय के समान अडिग खड़े रहे। तुमुल झंझावात जिस प्रकार पहाड़ के ऊपर नितान्त निराश्रय तथा शक्तिहीन हो जाता है, उसी प्रकार इन्द्र का क्रुद्ध वचन महर्षि के चित्त को विचलित न कर सका।

शान्ति का यह दृश्य जगत् के मानवों को चकित करने लगा।

३

'महर्षे, इस बार हमारा आग्रह आप को मानना पड़ेगा'—अश्विनीकुमारों ने विनयभरे शब्दों में कहा।

'कौन सा आग्रह ?'

"वही जिसे अधिकारी को देने की आपने प्रतिज्ञा की है—मधुविद्या का उपदेश।"

"उस विद्या के ग्रहण करने की पात्रता क्या आप लोगों में आ गई है ? दध्यङ् आथर्वण ने उत्सुकता से पूछा।

'हाँ, सत्य तथा तप का साधक व्यक्ति ही आपकी दृष्टि में इस अनुपम विद्या के पाने का उपयुक्त अधिकारी है। हम लोगों ने कठिन तपस्या कर अपने हृदय से हिंसा तथा कामवासना को सदा के लिए दूर कर दिया है। परोपकार हमारे जीवन का मूल मन्त्र है। महर्षे, आप से हमारे जीवन की प्रधान घटनायें छिपी नहीं हैं। इन्द्र ने स्वेच्छाचार से हमें सोमयाग में सोमपान के लिए नितरां अयोग्य ठहराया था। हमारे हृदय में भी प्रतिहिंसा की आग जल रही थी जो अपनी लपट से देवराज को झुलसा देने के लिए पर्याप्त थी। परन्तु हम लोगों ने इस वृत्ति को दबा कर उपकार

वृत्ति को ही आश्रय दिया। कितने पंगुओं को हमने चलने की शक्ति दी और कितने अन्धों को देखने की क्षमता। कितने जराजीर्ण व्यक्तियों के शरीर से बुढ़ापा का कलङ्क हटाकर उन्हें नवीन यौवन प्रदान किया है। उन महर्षि च्यवान को आप भूले न होंगे। शर्यात मानव की पुत्री सुकन्या के साथ उनका विवाह अवश्य हो गया था, परन्तु वृद्धावस्था के कारण उनका जीवन दूभर हो गया था। उन्हें हमने नवयौवन प्रदान किया है। उनके जीवन में वसन्त का उदय हो गया; जीर्ण देहलता उल्लसित हो गई। इसीके प्रत्युपकार में ऋषि च्यवान ने हमें सोमपीथी बना दिया है। आपने जिन गुणों को आवश्यक बतलाया था, उन्हें हमने सम्पादन कर लिया है। अब आप हमें मधुविद्या के रहस्य का उपदेश दीजिए।'

दध्यङ् आथर्वण के सामने एक विषम समस्या उपस्थित हो गई। अधिकारी व्यक्ति को प्रतिज्ञात उपदेश से वञ्चित रखना महान् अपराध होगा, परन्तु इन्द्र के अभिशाप को भुला देना भी घोर अपराध था। एक ओर थी जीवैषणा की स्वार्थमयी वृत्ति और दूसरी ओर थी ब्रह्मविद्या के प्रचार की उपकारमयी प्रवृत्ति। महर्षि के मन में यह द्वन्द्व संग्राम कुछ देर तक अपना छल और बल दिखला रहा था। परन्तु ऋषि के जीवन में ऐसे अवसर कितने बार आये थे और कितने ही बार उन्होंने परमार्थ की वेदी पर अपने स्वार्थ को समर्पण करते विलम्ब न किया था। भला, ब्रह्मवादी को इस शरीर की ममता तनिक भी विचलित कर सकती है? पानी के बुलबुले के समान इस जीवन का अस्तित्व ही कितना! आज है, कल गायब; नदी के प्रवाह में

बहते हुए दो काष्ठ-खण्ड एक साथ मिल जाते हैं; कुछ देर तक साथ साथ चलते हैं, परन्तु अन्त में विच्छिन्न होकर अलग अलग बह जाते हैं। जीवन की भी दशा ठीक इसी के समान है।

× × ×

महर्षि ने अपना निश्चय सुना दिया। अश्विनीकुमार का हृदय इस सुखद समाचार के श्रवणमात्र से आप्यायित हो गया; परन्तु जब महर्षि ने इन्द्र के अभिशाप की चर्चा की, तब उनके प्रसन्न मुखमण्डल पर विस्मय और विषाद की रेखायें बारी से दौड़ चलीं—विषाद, इन्द्र के समान देवता के इस चरित्र पर और विस्मय, दध्यङ् आथर्वण के उदात्त परोपकार-परायण जीवन पर। इन्होंने ऋषि से अपने एक विचित्र कौशल का परिचय दिया। अश्विनीकुमार को संजीवनी विद्या आती थी। इसके बल पर वे छिन्न-भिन्न अंग को भी धड़ से जोड़कर उसे चेतन और सजीव बना सकते थे। इस विद्या के प्रयोग करने का अवसर पाकर वे नितान्त प्रसन्न हुए। उन्होंने महर्षि से अनवरत आग्रह किया कि हम लोग आपके सिरको धड़ से अलग कर उसके ऊपर घोड़े का सिर बैठा देंगे। आप उसी से हमें मधु-विद्या का उपदेश करें। यदि वह सिर इन्द्र के क्रोध का भाजन बन अपना अस्तित्व खो बैठेगा, तो हम आपके असली सिर को धड़ से जोड़ देंगे। आपको प्राण हानि भी न होगी और हमारी वर्षों की साधना पूरी हो जायगी। दध्यङ् आथर्वण की स्वीकृति का क्षणिक विलम्ब था। उस प्रस्ताव को महर्षि ने स्वीकृत कर लिया; अश्विनीकुमार ने उनके असली सिर के स्थान पर घोड़े का सिर बैठा दिया।

इस शल्यकर्म की निपुणता संसार के प्राणीमात्र के लिए एक कौतुकजनक व्यापार थी। इसे देखकर संसार आश्चर्य से चकित हो उठा।

४

इस जगत् के समस्त पदार्थ आपस में एक दूसरे के उपकारक हैं—स्थूल पदार्थ से लेकर सूक्ष्म पदार्थ तक में यह परस्पर उपकार्योपकारकभाव एक रूप से अनुस्यूत दिखलाई पड़ता है। यह पृथिवी सब प्राणियों के लिए मधु है तथा सब प्राणी इस पृथ्वी के लिए मधु हैं। इस पृथ्वी में रहने वाला तेजोमय तथा अमृतमय पुरुष है तथा इस शरीर का अभिमानी तेजोमय तथा अमृतमय पुरुष विद्यमान है। ये दोनों समग्र पदार्थों के उपकार करने वाले हैं। अतः ये मधुरूप हैं तथा समग्र पदार्थ इनके लिए मधु हैं। जल, अग्नि, वायु, आदित्य, दिशा, चन्द्र, विद्युत्, मेघ, आकाश—इन समग्र पदार्थों के विषय में भी यही नियम क्रियाशील है; धर्म और सत्य भी इसी प्रकार जगत् के परस्पर उपकारक होने से मधु हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि समग्र वर्णों का नियामक धर्म ही है। श्रुति-स्मृति से अनुमोदित धर्म का बिना पालन किये प्राणी अपनी स्थिति को निश्चित नहीं रख सकता है और न अपना उदय प्राप्त कर सकता है। धर्म के लिए समस्त प्राणी मधुरूप हैं। सत्य की भी यही दशा है। यह विशाल विश्व सत्य के आधार पर अवलम्बित है। सत्य के आश्रय के अभाव में यह संसार न जाने कब का ध्वस्त हो गया होता? सूर्य सत्य के बल पर भूतल के अन्धकार का नाश करता है, चन्द्रमा सत्य के ही बल पर सन्तप्त संसार को अपनी सुधा-

धवल किरणोंसे शीतल बनाता है। यह सत्य सब प्राणियों के लिए इस प्रकार उपकारक होने से मधु है और सब प्राणी भी इस सत्य के लिए मधुरूप हैं। इस प्रकार यह परस्पर उपकार्य-उपकारक इस विश्व के कणकण में व्याप्त है—सर्वत्र गतिशील है।

हे नासत्यौ, आप लोग इस नियम से अपरिचित नहीं हैं कि जो वस्तु परस्परोपकारक है, वह किसी एक कारण के द्वारा उत्पन्न होती है, एक मूल स्रोत से प्रवाहित होती है; उसका सामान्य रूप एक समान है तथा उसके प्रलय होने का स्थान भी एक ही है। इस विश्व की यही दशा है। इसके मूल में परमात्मा है। अविद्या के आश्रय से इस जगत् की सत्ता है। ज्ञान के उदय होते ही यह विश्व परमात्मा में उसी भाँति लीन हो जाता है, जिस प्रकार दीप के प्रकाश से रस्सी में मिथ्याभूत सर्प छिप जाता है। उस नित्य परमात्मा को, इस विश्व के सूत्रात्मा को, अपनी बुद्धि से पकड़ना चाहिये। वह सब भूतों का अधिपति है, स्वतन्त्र राजा है। इस ब्रह्म को जाननेवाला पुरुष इस दुःखमय प्रपञ्च से मुक्त हो जाता है। ठीक जिस प्रकार रथ की नाभि में और रथ की नेमि में सब अर जुड़े रहते हैं, उसी प्रकार इस परमात्मा में और ब्रह्मविद् पुरुष में सब प्राणी, सब देवता, सब लोक, सब प्राण और सब मनुष्य समर्पित हैं। इस परमतत्त्व को पहचानना जीवन की मुक्ति का प्रधान उद्देश्य है। विश्व के भीतर क्रियाशील तत्त्व साक्षात्कार कर अपने जीवन को धन्य बनाइए।

महर्षि दध्यङ् अथर्वण ने प्रसन्न-वदन होकर स्वानुभूत मधुविद्या का उपदेश अश्विनीकुमार को दे डाला। ब्रह्मवादी

आचार्य के वचन सुनकर शिष्य की कामनाबेलि लहलहा उठी। शरीर हर्ष से कण्टकित हो उठा। वर्षों की साधना अन्ततः सफल हुई।

५

पात्र की भिन्नता के कारण एक ही कार्य के अनेक फल दीख पड़ते हैं। मधुविद्या का उपदेश अश्विनीकुमार के असीम हर्ष का साधन था, परन्तु इन्द्र के हृदय में यही विशेष क्रोध का कारण बन गया। अभिमानी इन्द्र को यह बात बड़ी बुरी लगी कि महर्षि ने उनकी आज्ञा का उल्लंघन कर दिया है। वे नहीं जानते थे कि ब्रह्मवादी की दृष्टि में इस देह का मूल्य कानी कौड़ी से भी कम है। वे देवताओं में सर्वश्रेष्ठ थे। भला, एक मनुष्य का इतना साहस कि वह उनकी स्पष्ट आज्ञा को इस प्रकार जान बूझ कर अवहेलना करे। गर्व का नशा बड़ा ही प्रभावशाली होता है; वह विवेक को उसी प्रकार चूरमूर कर डालता है जिस प्रकार मतवाला हाथी दृढ़मूल वृक्ष को। इन्द्र ने अपना वज्र सम्हाला और ऋषि के मस्तक के ऊपर तीक्ष्ण प्रहार किया। देखते देखते क्षण भर में आथर्वण का सिर भूतल पर लोटने लगा। अनधिकारी शिष्य को उत्तम विद्या के दान का फल खूब मिला।

उधर अश्विनीकुमार को इस बात की खबर लगी। उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा के पालन में क्षण भर भी विलम्ब न लगाया। अपने आचार्य की सहायता करने के लिए वे सीधे दौड़े हुए आये और उन्हीं को उपदेश देने के लिए गुरु को यह दुरवस्था देख कर उनके विषाद तथा विस्मय की सीमा न रही। विषाद

था अभिमानी इन्द्र की करतूत पर और विस्मय हुआ ब्रह्मज्ञानी दध्यङ् आथर्वण की असीम सहनशीलता पर। एक अक्षर के भी उपदेष्टा गुरु के प्रति शिष्य को अपना आदर प्रदर्शित करना शास्त्र का माननीय मत है, परन्तु मधुविद्या जैसे रहस्य के उद्घाटन करने वाले आचार्य के प्रति शिष्य का इतना कुत्सित बर्ताव ? परन्तु इतनी विषम स्थिति में भी महर्षि के उदार हृदय में क्रोध के लिए तनिक भी स्थान न था। इन्द्र के लिए उनके चित्त में क्षमा का अखण्ड उत्स विराजमान था। क्रोध-वश आकर शिष्य ने कुकर्म कर डाला, तो क्या वह क्षन्तव्य नहीं होता ? आखिर शिष्य ही तो ठहरा। महर्षि इसी विचार में मग्न थे कि अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार सत्य के उपासक नासत्यों ने अपने मीठे सहानुभूतिपूर्ण शब्दों से वचसा ही ऋषि के चित्त को आनन्दमग्न नहीं कर दिया, किन्तु कर्मणा भी। उन्होंने उस असली मस्तक को जिसे उन्होंने काट कर अलग रखा था ऋषि के धड़ से जोड़ दिया। ऋषि का आनन्द वैखरी का रूप धारण कर तुरन्त प्रकट हो चला। अश्विनीकुमार के इस अचरजभरे कार्य को देखकर जनता विस्मित हो उठी। लोगों ने अधिकारी शिष्य को दी गई विद्या के महत्त्व को तभी पहचाना।

६

'महर्षे, क्षमा करना मेरे गुरुतर अपराध को।'

'कौन-सा अपराध, देवराज ?'

'शिष्य के हाथों अपने ही विद्योपदेष्टा आचार्य का मस्तक छेदन'—अधोमुख इन्द्र ने लज्जा-भरे शब्दों में कहा।

'मेरे हृदय में आपके इस कृत्य से तनिक भी क्षोभ नहीं है। मैं अनधिकारी को विद्यादान से उसी समय पराङ्मुख हो रहा था परन्तु आपके आग्रह तथा अपनी सत्यनिष्ठा के कारण ही मैंने आपको इसका उपदेश किया था। परन्तु ब्रह्मज्ञानी के चित्त को ऐसे कार्यों से तनिक क्षोभ नहीं होता'—दध्यङ् आथवर्ण ने प्रेमभरे शब्दों में अविचल रूप में उत्तर दिया।

'यह आपकी उदारता है कि आप मुझे क्षमा कर रहे हैं; अश्विनीकुमार के इस कार्य को देख कर मेरा अभिमान अकस्मात् विलीन हो गया है। एक समय था जब मैंने ही इन्हें सोमयाग में सोमपान का अनधिकारी ठहरा कर बहिष्कृत किया था, परन्तु आज इनकी असीम गुरुभक्ति तथा अद्भुत शल्यकर्म-चातुरी देख कर मेरा हृदय पानो पानी हो रहा है। संजीवनी विद्या का ऐसा सुन्दर दृष्टान्त इस भूतल पर अभूतपूर्व' है।—इन्द्र ने अपना निरभिमान हृदय प्रकट किया।

'हाँ, अधिकारी को विद्यादान का यही रहस्य है। जिसके हृदय को अभिमान की आग जला रही हो, भला उसके हृदय में किसी उपदेश के टिकने का अवसर मिल सकता है। पाक-शासन, शास्त्र का अधिकारी भेद से विद्यादान का उपदेश बड़ा ही महत्त्व रखता है। पात्र के औचित्य पर ही विद्या फलवती हो सकती है। पामर जन मोतियों का मूल्य क्या समझेगा? उसका मूल्य तो नगर का जौहरी ही समझ सकता है। विद्या का गूढ़ रहस्य है। अनधिकारी व्यक्ति उस दुधारी तलवार की भाँति है जो दूसरे को मारकर अपने चलानेवाले व्यक्ति का

भी नाश कर डालती है। इस विषय में जागरूक रहने का आग्रह तिरस्करणीय नहीं है'।

\+ + +

आचार्य के इन प्रेमभरे शब्दों ने इन्द्र की कलुषित चित्त-वृत्ति को सदा के लिए बदल दिया। वृत्र तथा शम्बर जैसे दासों के प्रबल अधिपतियों के आकस्मिक आक्रमण के अवसर पर इन्द्र ने भौतिक सहायता के लिए भी महर्षि आथर्वण का आश्रय लिया और उन्हीं के उपदेशानुसार उन्होंने कुरुक्षेत्र के पास 'शर्यणा' नामक जलाशय से उस घोड़े के सिर को ढूँढ़ निकाला जिसे इन्द्र ने ही कभी काट गिराया था। महर्षि के द्वारा ब्रह्म-विद्या का उपदेश इसी मुख के द्वारा सम्पन्न किया गया था। वह नितान्त कठोर, सारयुक्त तथा पुष्ट बन गया था। ऋषि के उपदेशानुसार उसी से इन्द्र ने नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्र तैयार किये और उन्हीं की सहायता से इन्होंने दस्युओं के सैकड़ों मजबूत किलों को तोड़ धूल में मिला दिया और समग्र दासों को पहाड़ों की गुफाओं में खदेड़ दिया। इन्द्र की इस सहायता से आर्यों की विजय-वैजयन्ती सर्वत्र फहराने लगी।

आर्यजनता के आश्चर्य की सीमा न थी जब उन्होंने अपने ही विस्मय-विस्फारित विलोचनों से देखा कि जिनकी अस्थि से वज्र तैयार किया था उन्हीं ब्रह्मवेत्ता महर्षि दध्यङ् आथर्वण का हृदय कितना सुकुमार और कोमल था।

अनुभूति

१

दो विभिन्न शक्तियों के घात-प्रतिघात से वह अनन्त-रूप विचित्र वस्तु अपनी स्थिति बनाये हुए है जिसे हम 'संसार' नाम से पुकारते हैं। एक शक्ति इसकी मर्यादा को छिन्न-भिन्न कर, संगठित अवयवों को अलग-अलग कर, इसे टुकड़े-टुकड़े करने के लिये उद्योगशील है और दूसरी शक्ति इसके छिन्न-भिन्न अवयवों को भी एक साथ जोड़ उसे एकतासूत्र में बाँधने के लिए उद्यत है। यदि जगत् की स्थिति के लिए एक शक्ति नितान्त घातक है, तो दूसरी शक्ति नितान्त उपकारक है। एक का नाम है—आसुरी शक्ति और दूसरी की संज्ञा है—दैवी शक्ति। इन दोनों का रगड़ा-झगड़ा बड़ा पुराना है। कभी आसुरी शक्ति दैवी शक्ति को परास्त कर अपनी प्रभुता जगाती है, तो कभी दैवी शक्ति आसुरी को अपने चंगुल में दबाकर अपना प्रभाव फैलाती है। इन दोनों के संघर्ष में ही इस विचित्र जीवन का रहस्य छिपा हुआ है।

एक समय देवताओं ने असुरों पर विजय प्राप्त किया; मायावी असुरों की सारी माया देवताओं के सात्त्विक बल के सामने परास्त होकर बालू की भीत के समान ढेर हो गई।

जिसे देखिए वही देवता इस विजय पर अखर्व गर्व से अपनी छाती फुलाये हुए चल रहा था। अग्निदेव का यह साभिमान आग्रह था कि उन्हीं की दहन-शक्ति ने असुरों के पराक्रम को तिनके के समान जलाकर राख बना दिया था। वायुदेव की हुँकार-भरी गर्जना थी कि उन्हीं की ग्रहण शक्ति ने असुरों की राज्य-लक्ष्मी को ग्रहण कर उन्हें राहचलता भिखारी बना दिया था। परन्तु सबसे अधिक अहंकार फूट रहा था वज्रबाहु मघवा की महनीय उक्तियों में। इन्द्र का यह उद्दीप्त कथन था कि उन्हीं के वज्र ने असुरों की रीढ़ तोड़ दी थी। अब वे अपना काला मुँह अपने हाथों से छिपाये पर्वतों की अँधेरी गुफा में जा छिपे थे। मिथ्याभिमान से उनके पैर पृथ्वी पर न पड़ते थे।

देवताओं की यह भारी भूल थी। इस विश्व में देवताओं से भी बढ़कर एक असीम अखण्ड अनन्त सत्ता है जिसकी देखरेख में यह विश्व समान नियम से चल रहा है; प्राची क्षितिज पर सविता नित्य प्रातःकाल उदित होता है; अपनी किरणों को भूतल पर फैलाता है, घने अन्धकार को और गहन आलस्य को दूर कर प्राणीमात्र को कार्य में प्रवृत्त करता है। नित्य रात्रि के समय चन्द्रमा अपने नियमित समय पर उदय लेता है, सन्तप्त प्राणियों के हृदय को आह्लादित करता है और अनन्तर अस्त हो जाता है। दिन के बाद रातें आती हैं और रातों के बाद दिन। ऋतुओं के प्रकट होने का क्रम तनिक भी नियम की मर्यादा को नहीं लांघता। ग्रीष्म के दुःखद दिनों की गर्मी पावस की वर्षा से शान्त होती है और हेमन्त की लम्बी रातों का जाड़ा वसन्त के उदय होते ही छिप जाता

है। विश्व का यह एकरस नियमन (ऋत) जिसके द्वारा सपन्न होता है वही परमेश्वर, परमात्मा, परमब्रह्म है। देवता भी इसी परम शक्तिमान् सच्चिदानन्द के आंशिक शक्तियों के प्रतीकमात्र हैं। परन्तु इस परमात्मा को बिल्कुल भुलाकर देवताओं ने समझा—वे ही इस विश्व के नियामक हैं, जय और पराजय उन्हीं को अँगलियों पर नाचते हैं।

२

मिथ्याभिमान ही असुरता की पक्की पहिचान है, और अभिमानहीनता देवत्व की। अपने पराक्रम के गर्व में आकर प्राणी भूल जाता है कि किसी भी कार्य का वास्तव में प्रेरक सर्वशक्तिमान् परमात्मा है, प्राणी तो उसके हाथ की निरी कठ-पुतली है। वह जिधर घुमाता है उधर ही घूमता है। जिस जगन्नियन्ता की आज्ञा के बिना पेड़ का एक हलका पत्ता भी नहीं हिलता, भला प्राणियों में वह सामर्थ्य कहाँ कि उसकी आज्ञा के बिना वह एक तिनका भी तोड़ सके? परन्तु मोह-मदिरा की मस्ती में झूमनेवाला जीव कभी अपने अन्तर्यामी को नहीं जानता। अतः वह फल लूटने की वाहवाही की पिटारी अपने ही सिर रखने के लिए तैयार होता है। यही है उसका मिथ्या अभिमान—झूठा गौरव। वह नहीं ज़ानता कि यही संसार के समस्त बुराइयों की जड़ है—समस्त अनर्थों का कारण है। परमात्मा ने तो संसार की प्रतिष्ठा के लिए असुरों का संहार अपनी शक्ति से किया था, परन्तु देवता इस विजय पर फूले न समाते थे। पुत्र की काली करतूत को देख पिता का कोमल हृदय उद्विग्न हो उठा! विजय होने पर तो सत्पुरुषों के

मस्तक नम्र हो जाते हैं, हृदय दया से पसोज जाते हैं, परन्तु यहाँ फल एकदम उलटा ! विजय का नशा देवताओं के सिर पर इतना अधिक चढ़ा था कि वे भगवान् को भी भूल गये, पर भगवान् दयालु ठहरे। उन्हें यह प्रतीत होने लगा कि यदि यह मिथ्याभिमान दृढ़ हो गया तो असुरों के समान देवताओं का भी सर्वनाश एक दिन अवश्य हो जायगा। अतः इस अहंकार के भाव को दूर भगा देने के लिए परमात्मा ने अपनी लीला से एक अद्भुत यक्ष का रूप आकाश में प्रकट किया। उस रूप को देखकर देवताओं के चित्त आश्चर्य से चमत्कृत हो उठे—उन्होंने अपनी समस्त इन्द्रियों की शक्तियाँ उस रूप के जानने में लगा दीं, परन्तु उस यक्ष—अत्यन्त पूज्य—को पहचानने का उनका सारा श्रम निष्फल हुआ। देवताओं को अभिमानभरी दृष्टि उस दिव्य पुरुष को देखकर भी पहचान न सकी।

उद्योग में हार बैठना कापुरुषों का काम है। असुरों के प्रबल प्रताप पर विजय पाने वाले देवता भला एक साधारण-सी चीज के पहचानने में पराजय कैसे मानते। सलाह कर उन्होंने 'अग्नि' से प्रार्थना की—भगवन्, आप हमारे अग्रगामी होने से अग्नि हैं, होम को अविलम्ब वहन करने से 'वह्नि' हैं, समस्त प्राणियों को जानने के कारण आप 'जातवेदाः' हैं; हम लोगों में सबसे अधिक तेजस्वी हैं। जब आपकी ज्वालायें धूँ-धूँ करती आकाश में उठती हैं तब किसकी शक्ति है कि उस ताप को सह सके ? कृपया इस यक्ष का परिचय प्राप्त कीजिये कि यह कौन है ?

देवताओं की मधुर प्रार्थना से फूल कर अग्निदेव उस

विचित्रकाय यक्ष के सामने आये और उसे घूर घूर कर देखने लगे।

'आप कौन हैं ?' यक्ष ने विस्मित होकर पूछा।

'मैं हूँ अग्नि, सर्व का अग्रणी; मैं हूँ जातवेदा; समस्त वस्तुओं का ज्ञाता'—अग्नि ने गर्वीले शब्दों में अपना परिचय दिया।

'आप केवल नामधारी हैं अथवा शक्तिधारी भी ?'

'मेरी शक्ति को कौन नहीं जानता ? जगत् के समस्त पदार्थों के जलाने की शक्ति मुझमें है। जब मैं उद्दीप्त हो उठता हूँ तब मेरी ज्वाला के सामने विशालकाय प्रासाद क्षण भर में जल भुनकर श्वेत राख की ढेर बन जाते हैं, कठोर पत्थर भी मेरी ज्वाला में पड़कर पिघल उठता है; सघन जंगल पलक मारते ही काले कोयलों का एक विराट् स्तूप बन जाता है।'—इतना कहते हुए अग्निदेव की शिखा आकाश में उठने लगी।

'तब इस तिनके को जलाइए'—यक्ष ने कहा। अग्निदेव बड़े वेग से उसके पास गये और चाहा कि इस निःसार, निर्जीव तथा नीरस तृण को एक झपके में झुलसा दूँ। परन्तु उसका सारा क्रोध कौतुक के वेश में परिणत हो गया, जब उन्होंने आँख खोल कर देखा कि लाख उद्योग करने पर भी वह तिनका उसी प्रकार अपनी सत्ता बनाये हुए जमीन पर पड़ा था। अज्ञेय के जानने में अभिमानी अग्नि विफल हुए। हताश होकर हुताशन लौट आये।

३

देवताओं ने अग्नि की विफलता से अपना साहस नहीं छोड़ा। अग्नि से भी अधिक प्रभावशाली वायुदेव के पास पहुँच

कर वे उनके हृदय में उत्साह भरने लगे—सतत गमन करने से आप 'वायु' कहलाते हैं और अन्तरिक्ष में विचरण करने से 'मातरिश्वा'। जगत् के समस्त पदार्थों पर आपकी शक्ति काम करती है। आपकी महिमा अवर्णनीय है। आपकी गर्जना से पर्वत दहल उठते हैं और पृथ्वी के पदार्थ चूर्ण विचूर्ण हो जाते हैं। आप इतने वेग से बहते हैं कि पृथ्वी की धूलि को ऊपर उड़ाकर और अखिल दिङ्मण्डल को लाल रंग का बनाकर आकाश में आप व्याप्त हो जाते हैं[1]।

प्रशंसा के शब्दों ने वायु के उत्साह को द्विगुणित कर दिया और वे अपने रथ पर सवार होकर गर्जन-तर्जन करते हुए बड़े वेग से यक्ष के पास पहुँच गये। वायु के इस तुमुल गर्जन से जगत् स्तब्ध हो गया। जान पड़ा इस विश्व को अपनी उदरदरी में समेटने वाला प्रलय आ धमका।

यक्ष ने आगन्तुक को आश्चर्य से देखकर पूछा—आपका परिचय? 'मुझे लोग अनेक नामों से पुकारते हैं—सतत बहने से मैं 'वायु' हूँ, और अन्तरिक्ष में विचरण करने से 'मातरिश्वा' मेरी ही संज्ञा है।

'आपकी शक्ति?'

१—नातस्य नु महिमान रथस्य
रुजन्नेति स्तनयन्नस्य घोषः ।
दिविस्पृग् यात्यरुणानि कृण्वन्
उतो एति पृथिव्या रेणुमस्यन् ॥
(ऋग् १०।१६८।१)

इस विश्वमण्डल में कौन मेरी ग्रहणशक्ति को नहीं जानता ? वह पदार्थ कौन है जिसे मैं ग्रहण न कर सकूँ। विशालकाय वृक्षों को पकड़ कर एक स्थान से दूसरे स्थान पर पटक देना मेरे बायें हाथ का खेल है। मेरा गर्जन सुन प्राणियों के कान बधिर हो जाते हैं। कठोर पर्वतों के उच्च शिखरों को टूक टूक कर देने में मुझे तनिक भी आयास नहीं। मेरे सामने समुद्र का जल बाँसों ऊपर उछलने लगता है और उस पर चलने वाले जहाजों को एक हल्के झटके में चूर चूर कर देने में मुझे देर नहीं लगती। कौन मेरे सामने सीधा खड़ा हो सकता है' ?—वायु की गर्वोक्ति सुनते ही यक्ष ने एक तृण सामने रख दिया। वायु बड़े वेग से उसे ऊपर-नीचे, इधर-उधर पकड़ कर हटाने का उद्योग करने लगे परन्तु वह तिनका अपनी जगह से तनिक भी न डिगा। जरा भी न हिला। वायु के आश्चर्य की सीमा न थी। इतनी शक्ति के प्रयोग करने पर भी वह पूर्ववत् अचल, अडिग और स्तब्ध बना रहा !!! वायुदेव का अभिमान चूर्चूर होकर बिखर गया। वे विकलवदन होकर झट लौट आये।

४

ज़ोर के आघात लगने पर उसका प्रतिघात भी उतना ही ज़ोरदार हुआ करता है। यक्ष के स्वरूप-निर्णय की विफलता देवताओं के कौतुक को भी उसी मात्रा में बढ़ाने लगी जिस मात्रा में उनके उत्साह को। वे अपने स्वामी इन्द्र के पास पहुँच कर जिज्ञासा के इस दुर्भेद्य दुर्ग के भीतर प्रवेश करने के लिये प्रार्थना करने लगे—आप जन्म लेते ही सब देवताओं

से शक्ति में बढ़कर हैं। आपके बलके सामने यह द्यावापृथिवी काँप उठते हैं। आपका उपकार क्या कभी भुलाया जा सकता है? डोलनेवाली पृथ्वी को आपने स्थिर किया; काँपने वाले पर्वतों को आपने एक स्थान पर जमाया; इस दीर्घ अन्तरिक्ष को तथा आकाश को अपने उचित स्थान पर स्थिर किया। जिस समय वज्र धारण कर आप अपने भक्त आर्यगणों की सहायता करते हैं, तब काले दस्युलोग गहन पर्वतों की गुफाओं में जा छिपते हैं; आपने अपने वज्र से छिन्नभिन्न वृत्र, शम्बर तथा रौहिण आदि भयानक दानवों को पृथ्वीतल पर सदा के लिए सुला दिया है[1]।

मघवा के प्रमोद समुद्र में आन्दोलन हो उठा। अतीत के समस्त वीर-कार्य उनके नेत्रों के सामने झलकने लगे। आनन्द से गद्गद होकर वे कहने लगे—मुझ से बढ़ कर इस विश्व में कौन है? मेरा ऐश्वर्य अतुलनीय है—मैं इन्द्र हूँ। मेरा बल अपरिमित है—मेरा नाम मघवा है। वज्रहस्त विडौजा के ओज की कथामात्र से विश्वके प्राणी उद्विग्न हो उठते हैं। दुर्दान्त वृत्र को चूर्ण चूर्ण कर भूतल पर ढेर कर देने का गौरव मुझे छोड़ कर किसे प्राप्त है? मैं इस यक्ष के रहस्य का परिचय पाकर ही लौटूँगा।

१—अहन् वृत्रं वृत्रतरं व्यंस-
मिन्द्रो वज्रेण महता वधेन।
स्कन्धांसीव कुलिशेना विवृक्णा-
हिः शयत उपपृक् पृथिव्याः॥
(ऋ० १।३२।५)

मघवा अपनी अभिमानभरी चाल से खड़े हुए। विश्व अस्त-व्यस्त हो गया। पृथ्वी काँप उठी। भूडोल की आशङ्का से जगतीतल पर हड़कम्प मच गया।

परन्तु इन्द्र के आगमन के साथ ही साथ यक्ष अन्तर्धान हो गया। सहकारियों का स्वभाव अन्य सहकारी के स्वभाव को बतलाने में विलम्ब नहीं करता। अग्नि और वायु में अभिमान की इतनी मात्रा है, तो इनके प्रधान सहयोगी इन्द्र में कितनी होगी? मघवा मिथ्याभिमान के जाग्रत् पुञ्ज ठहरे। उनसे सम्भाषण करना भी घोर अनर्थ होगा। यही विचार कर यक्ष अकाश में पलक मारते छिप गया। मघवा का अभिमान वायु के झोंके से तोड़े गए वृक्षखण्ड के समान चूर-चूर हो गया। यक्ष के रहस्योद्घाटन की कामना द्विगुणित भाव से उनमें जाग्रत हो उठी। वे लौटे नहीं, बल्कि यक्ष की भक्ति में तन्मय हो गए।

× × ×

४

आकाश में जिस स्थान पर यक्ष पुरुष अन्तर्धान हो गये थे, ठीक उसी जगह अकाश अचानक चमक उठा—जान पड़ा मानों हजारों बिजुलियाँ एक ही क्षण में नभोमण्डल में चमकने लगी हों। एक दिव्य ज्योति प्रकट हुई—रमणीय रमणी रूप में। उस सुन्दरी के शरीर से प्रभापुञ्ज चारों ओर फूट रहा था, दर्शकों के नेत्र इस चमक-दमक के सामने चकाचौंध हो गये—सुन्दरी का रूप नितान्त तेजस्वी था, कान्ति सोने के

समान चमक रही थी, वह थी दिव्य पवित्र तेज का मनोरम पुञ्ज।

भक्त के हृदय की ज्ञानपिपासा शान्त करने के लिये दयावती ब्रह्मविद्या सद्यः प्रकट हुई—परमेश्वर की शक्तिभूता उमा हैमवती का सद्यः उदय हुआ। इस परमसुन्दरी लावण्य-मयी को देखकर इन्द्र ने निरभिमान भाव से अपना मस्तक नवा कर प्रणाम किया। देवी के सामने सरल भक्त का सिर आप से आप नत हो गया। उमा हैमवती ने मघवा के न की सरलता समझ ली; इन्द्र का वह पुराना अहंकार, सर्वशक्तिमान् होने का अभिमान, पानी के बुलबुले के समान फूटकर विलीन हो चुका था। ज्ञान के धारण करने को पात्रता उनमें आ गई थी। उमा हैमवती ने यक्ष का परिचय देना आरम्भ किया—'जिसके स्वरूप को जानने के निमित्त देवता लोग अश्रान्त उद्योग करने पर भी जानने में समर्थ न हो सके हैं, वह यक्ष साक्षात् ब्रह्म हैं। असुरों पर विजय पाना उन्हीं का कार्य है, आप लोग तो केवल निमित्त-मात्र हैं; परन्तु अपने अज्ञान के कारण आप लोगों ने उसी परमात्मा की अवहेलना की है। उन्हीं के विजय के कारण तो देवताओं को इतना गौरव प्राप्त हुआ है, परन्तु इस रहस्य से आप लोग नितान्त अनभिज्ञ हैं।

'इस विश्व के मूल में एक ही सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् पुरुष विद्यमान है। वह एक है, उसके सामान या इससे बढ़कर किसी अन्य पदार्थ का सर्वथा अभाव है; सब प्राणियों के भीतर वह छिपा हुआ है; जिस प्रकार तिलों में तैल, दूध में घी, स्रोतों में जल तथा अरणि में आग विद्यमान रहकर भी

हमारे इन्द्रियों के गोचर नहीं हैं, ठीक उसी प्रकार वह परम-तत्त्व सब में अनुस्यूत होने पर भी अगोचर है। सर्वत्र व्यापक है। सब प्राणियों के भीतर आत्मस्वरूप वही है—प्राणियों को नाना प्रकार की प्रवृत्तियों में प्रवृत्त कराता है। कर्मों का साक्षात् नियामक है। सब प्राणियों का आश्रय है। साक्षी ज्ञानरूप, केवल तथा गुणों से हीन है[1]।

'उसके कर्मों तथा शक्तियों से आप नितान्त अपरिचित प्रतीत हो रहे हैं। जगत् में सर्वत्र व्यापक होने से वही विष्णु है; जगत् की रक्षा करने के कारण वहीं 'गोपा' कहे जाते हैं (विष्णुर्गोपा अदाभ्यः) जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा लय उनके ही अधीन हैं। साधारण सी बात भी उनकी इच्छा के बिना नहीं घटती, एक तिनका भी टससे मस नहीं होता, एक छोटा सा पत्ता भी उनकी आज्ञा के बिना नहीं हिलता। ऐसे परम-तत्त्व की इतनी अवहेलना! संसार की मर्यादा के निमित्त ही उन्होंने आसुर बल को दबा कर दैव बल को प्रबल तथा विजयी बनाया है। इस नानात्मक जगत् के भीतर वही एक तत्त्व क्रियाशील रहता है; देवता लोग उन्हीं को विभिन्न शक्तियों के साक्षात् रूप हैं। एक होने पर भी नाना नामों से वे ही पुकारे जाते हैं—एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति, अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।

१—एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥
(श्वेता० ६।११)

'देवता लोग परमात्मा के अन्तर्यामी रूप को भली भाँति नहीं जानते, नहीं तो इस प्रकार मिथ्याभिमान के गर्त में नहीं गिरते। जगत् के भीतर समग्र पृथ्वी, जल, अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, दिक्, आदित्य आदि पदार्थों में वह रमता है, इसके भीतर स्थित रहता है, परन्तु ये पदार्थ उसे नहीं जानते। ये उसके शरीरमात्र हैं। वही अमृत अन्तर्यामी भीतर से इनका नियमन करता है। प्राणियों के प्राण वाक्, श्रोत्र, मन, त्वक्, विज्ञान, रेतस् में भी इसी प्रकार उसका निवास है। इनको प्रेरणा वही किया करता है। वह स्वयं अदृष्ट होने पर भी सबका द्रष्टा है, अश्रुत श्रोता है, स्वयं किसी के द्वारा मनन न किये जाने पर भी सबका मननकर्ता है। अविज्ञात होनेवाला विज्ञाता है उसको छोड़ कर दूसरा न कोई द्रष्टा है, न श्रोता है, न मन्ता है और न विज्ञाता है। वही अन्तर्यामी सत्य है, ऋत है; उससे भिन्न समस्त विश्व मिथ्या है, आर्त है[1]। उसकी विस्मृति सकल अनर्थों को जननी है। वह निराकार होने पर भी साकार है; निर्गुण होने पर भी सगुण है। मनुष्यों को मधुर बोली में वही बोलता है; पक्षियों के कलरव में वही चहकता है, विकसित पुष्पों में वही हँसता है, पहाड़ों में वही ऊँचा सिर उठाये खड़ा रहता है; झरनों में वही झरता है। नदियों के कलकल प्रवाह में वही बहता है। उसे पहचानिए उसीके शरण में जाइए। तभी आपका, देवताओं का तथा इस विश्व का कल्याण है।'

× × ×

१—बृहदा० उप० ३, ब्रा० ७।

इन्द्र की भक्ति लहालहा उठी। ब्रह्म का परिचय पाकर देवतामण्डली कृतकृत्य हो गई। अग्नि, वायु तथा इन्द्र के गौरव का रहस्य इसी घटना में छिपा हुआ है कि देवताओं में इन्होंने ब्रह्म को समीप से स्पर्श किया तथा इन्होंने ही ब्रह्म को पहले पहल जाना। महिमा की कसौटी ब्रह्म का ज्ञान है, जगत् की विभूति नहीं। महान् वही है जिसने महत्तम का अनुभव किया है।

ब्रह्मवादी

१

ब्रह्मज्ञानी के लिए यह जगत् मृगमरीचिका है। प्यासे मृग के नेत्रों के सामने पानी से भरा हुआ जलाशय दीख पड़ता है। वह उसकी खोज में छलांगें भरता है, परन्तु जब वह उस जलाशयवाले स्थान पर पहुँचता है, तब वहाँ उसे बीहड़ बीरान उसके उद्योगों की हँसी उड़ाता हुआ मिलता है। संसार के विषयों में रमनेवाले जीवों की भी दशा इसी प्रकार है। आपात-मधुर विषयों के सेवन का परिणाम विषमय होता है। यही कारण है कि ब्रह्म की सत्ता को प्रत्यक्ष करनेवाले सन्त जगत् के किसी भी पदार्थ में नहीं रमते; लोभ मोह से वे कोसों दूर रहते हैं; काम को वे पास फटकने नहीं देते; विशाल प्रासाद को छोड़कर वे झोपड़ियों में रहते हैं और मस्त पड़े रहते हैं। पर महाराज जानश्रुति पौत्रायण को विश्वास न होता था कि ब्रह्मवेत्ता रैक्व केवल गाड़ी में निवास करते हुए अपना जीवन-यापन करते होंगे। उन्होंने अपने विशाल साम्राज्य में ऐसा

निःस्पृह व्यक्ति न देखा था जो घरबार से नाता तोड़कर गाड़ी को ही अपना घर बनाया हो, परन्तु अपनी ही आँखों से ऐसे अनिकेतन यति को देखकर उनके हृदय में आश्चर्य की सीमा न रही।

जानश्रुति अपने समय के एक माननीय महीपाल थे। वे प्रसिद्ध राजा जनश्रुति के पौत्र थे। उनके जीवन का एक ही महान् व्रत था—अतिथियों की सेवा। वह बहुत ही श्रद्धा के साथ आदरपूर्वक योग्य पुरुषों को बहुत दान दिया करते थे। अतिथियों के भोजन के लिए उनके महल में प्रतिदिन नाना प्रकार के स्वादिष्ट पक्वान्न तैयार किये जाते थे। यज्ञों में भूयसी दक्षिणा देने के कारण उनकी बड़ी ख्याति थी। वह चाहते थे कि प्रत्येक नगर और गाँव में रहनेवाले ब्राह्मण, साधु-सन्त तथा निर्धन जन मेरा ही दिया हुआ अन्न खाँय तथा मेरे ही बनाये हुए मकानों में रहें। इसलिए उसने अपने विशाल साम्राज्य में सर्वत्र धर्मशालायें बना रखी थीं तथा अन्नसत्र स्थापित कर रखे थे जहाँ अतिथियों के ठहरने तथा भोजन करने का सुप्रबन्ध था। दिन रात के चौबीसों घंटों के भीतर जब कभी और जितने अतिथि आते उनका उचित सत्कार किया जाता। जेठ महीने की जलती दुपहरी अतिथियों को वृक्षों की शीतल छाया के नीचे राजा की सेवा से सन्तुष्ट लेटे हुए पाती तथा माघ की आधी रात का कड़कड़ाता जाड़ा अभ्यागतों को धर्मशालाओं के भीतर ऊनी कम्बलों से लिपट कर सुख की नींद सोते हुए पाता। राजा इस अन्न-दान तथा अतिथि-सत्कार से नितान्त सन्तुष्ट था। वह समझता मेरा जीवन अब सफलता के शिखर

पर पहुँच गया है। उसे कोई कामना शेष न रही, संसार के किसी भी वस्तु की चाह बाकी न थी।

पर ब्रह्मानन्द का सुख जगत् के समस्त सुखों से बढ़कर है। इस तथ्य को शिक्षा देने का दयालु देवताओं तथा ऋषियों ने विचार किया। वे हंस का रूप धारण कर राजा के महल के ऊपर से रात के समय उड़कर जा रहे थे। पिछले हंस ने आगे उड़नेवाले हंस से कहा—भाई भल्लाक्ष, तुम जानते हो कि जान-श्रुति पौत्रायण का तेज दिन के समान सर्वत्र फैल रहा है। कहीं उसे स्पर्श न कर लेना। कहीं वह तुम्हें स्पर्श कर लेगा तो वह तेज तुम्हें तुरन्त भस्म कर देगा। अतिथि की उदरज्वाला को शान्त करनेवाले महापुरुष के तेज की महिमा अवर्णनीय है। मैं तुम्हें स्मरण दिला रहा हूँ। हम लोग इस समय उसी जान-श्रुति के महल के ऊपर से उड़े चले जा रहे हैं। रात का समय है। कहीं तुम्हारी यह प्रमाद महान् अनर्थ का जनक न हो।"

आगे उड़नेवाले हंस ने तिरस्कार की हँसी हँसते हुए कहा-भाई श्वेताक्ष, तुमने आज मुझे बड़ी विचित्र बात सुनाई। मुझे प्रतीत होता है कि उस गाड़ीवाले रैक्व की कीर्ति अभी तक तुम्हारे कानों तक नहीं पहुँची है। यदि तुमने वह कीर्ति सुनी होती, तो इस आपात-मनोहर घटना के वर्णन करने में तुम्हें संकोच अवश्य होता।

श्वेताक्ष ने विस्मय के स्वर में पूछा—भाई, वह गाड़ीवाला रैक्व कौन है? उसका आचरण कैसा है? वह कहाँ रहता है?

गाड़ी में रहना और महल में रहनेवाले राजा से स्पर्धा करना ! यह बात सचमुच विलक्षण है ।

भल्लाक्ष—भाई, रैक महान् ब्रह्मवादी हैं, वे सुख दुःख में एक समान, द्वन्द्व सहिष्णु, सब प्राणियों के हितचिन्तन में निरत सिद्ध पुरुष हैं । संसार की माया उन्हें तनिक भी स्पर्श नहीं करती । पक्के अनिकेतन हैं । बैलगाड़ी में ही वे रहते हैं । उनकी महिमा का वर्णन करना असम्भव है । जगत् की प्रजा जितने शुभ कार्यों का सम्पादन करती हैं उनका समग्र फल इन्हीं रैक को प्राप्त हो जाता है । जिस प्रकार जूए के खेल में 'कृत' नामक पासा जीतता है और उसके नीचे के पासों—त्रेता, द्वापर, कलि—का फल उसे ही प्राप्त हो जाता है, रैक का विलक्षण प्रभाव भी ऐसा ही है । वह रैक जिस जानने योग्य वस्तु को जानता है उस वस्तु को जो कोई पुरुष जान लेता है उसे भी रैक के समान ही सब प्राणियों के शुभ कर्मों का फल प्राप्त होता है । मैं उसी ब्रह्मवादी रैक्व के विषय में यह बात कह रहा हूँ ।

रात अभी अधिक नहीं हुई थी । महल की ऊँची अटारी पर महाराज जानश्रुति अभी जगे ही थे । हंसों की बोली वे जानते थे । भल्लाक्ष की बातें सुनते ही उन्हें बड़ा ही आश्चर्य हुआ । अपने शोभन कार्यों के फल पर उन्हें पूरा विश्वास था । उन्हें अपने हृदय में दृढ़ विश्वास था कि उनकी कीर्ति से बढ़कर किसी प्राणी की कीर्ति हो ही नहीं सकती । उनके हृदय पर सचमुच एक बड़ा भारी आघात पहुँचा, जब उन्होंने अपने समान ही नहीं, प्रत्युत अपने से बढ़कर प्रभाव-

शाली व्यक्ति की महिमा सुनी। सुनते ही विचारने लगे—'यह रैक कौन है ? कहाँ इनका निवास है। चिन्ता के मारे राजा को नींद नहीं आई। पलकों पर प्रभात हो आया। ऊषा को स्वर्णमयी आभा प्राची क्षितिज पर छिटकने लगी। संसार में स्फूर्ति का स्रोत बह चला, परन्तु चिन्ताशील जानश्रुति के हृदय में आलस्य का तथा विषाद का अब भो साम्राज्य बना हुआ था। बन्दीजन कोकिल-विनिन्दित कण्ठों से कमनीय कीर्ति-कौमुदी की कथा सुनाकर राजा को जगाने लगे। बन्दोजनों की यह स्तुति-पद्धति प्रतिप्रभात राजा के मनोह्लाद का साधन बनती थी, परन्तु आज उसे यह उपहास सी प्रतीत होने लगी। राजा ने इन स्तुति पाठकों को बुलाकर कहा—आज यह नित्य का राग अलापना छोड़ो। आज मैं उस गाड़ीवाले रैक से भेंट करना चाहता हूँ। उसे खोज निकालो।

बन्दोजनों ने बड़ी उत्सुकता से पूछा—महाराज, ये रैक कोन है ? कहाँ रहते हैं ? उनका आचार कैसा है ? क्या कारण है कि आप उत्सुक चित्त होकर उनसे भेंट करने की अभिलाषा रखते हैं।

जानश्रुति की भी इस विषय में अभिज्ञता विशेष न थी। उन्होंने रात के समय हंसों के वार्तालाप से जिन बातों का परिचय प्राप्त किया था, वे बातें कह सुनाईं। बन्दोजनों को सन्तोष तो नहीं हुआ, परन्तु उसी सामान्य संकेत के बल पर इस असामान्य पुरुष के अन्वेषण में वे दत्तचित्त से लग गये।

२

अन्वेषण भी एक कष्टसाध्य व्यापार है। इस कार्य में वही प्रवृत्त हो सकता है जिसे उतनी योग्यता प्राप्त होती है। समान-धर्मा पुरुष एक दूसरे की खोज भली भाँति कर सकते हैं। परन्तु कहाँ राजसभा में चाटुकारी की विद्या में निष्णात बन्दी-जन और कहाँ ब्रह्मविद्या में नदोष्ण सिद्ध पुरुष की खोज। भला, उनसे सफलता की आशा करना ही सफलता का ही उपहास था। प्रभु की आज्ञा थी। उन्होंने रैक को जन-कोलाहल से व्याप्त नगरों तथा ग्रामों में खोजा, परन्तु कहीं पता नहीं चला। हताश होकर वे लौट आये और अपनी असफलता की सूचना अपने प्रभुवर को दी। राजा ने अब उन्हें समझा कर भेजा—जाओ उन स्थानों को जहाँ ब्रह्मवादी निवास करते हैं। ढूढ़ो पावन सरिता के उन तीरों को, जहाँ वृक्ष की शीतल छाया में वे शान्त मन से ध्यान में निमग्न रहते हैं। ढूढ़ो उन रमणीय तपोवनों को, जहाँ वे प्रकृति के अनुशासनों को भी अपने वश में कर आत्मा के साक्षात्कार में लीन रहते हैं।

महाराज जानश्रुति का संकेत बिल्कुल ठीक था। बन्दीजनों ने इस बार यत्न किया और इस यत्न में वे सफल-मनोरथ निकले। दूर दूर खोजने के अनन्तर उन्होंने नदी के किनारे बैलगाड़ी के नीचे बैठे हुए अनासक्तरूप से अपने शरीर को खुजलाते हुए एक तापस को देखा। पहचानते उन्हें विलम्ब न लगा। स्थान की एकान्तता, शकट की सत्ता, मुख की प्रसन्नता से उन्हें विश्वास हो गया कि आज वे अपनी खोज में सफल हुए हैं। सामने बैठने वाले ही व्यक्ति रैक्व थे, परन्तु निश्चय

करने के लिए उन्होंने पूछा—'भगवन् क्या गाड़ीवाले रैक्व आप ही हैं।' ऋषि ने कहा—'हाँ, वह व्यक्ति मैं ही हूँ'। सेवकों के द्वारा यह शुभ समाचार पाकर महाराज जानश्रुति स्वयं महर्षि के दर्शन के लिए गये। दक्षिणारूप से उन्होंने ६ सौ गायें, सोने का हार तथा खच्चरियों से जुता हुआ रथ (अश्वतरी रथ) अपने साथ ले लिया। महर्षि को समर्पण कर बड़े विनम्र शब्दों में उन्होंने प्रार्थना की—'हे भगवन्, आप उस देवता का उपदेश दीजिए जिसकी आप उपासना करते हैं।'

ऋषि के क्रोध का ठिकाना न रहा। अनश्वर तत्त्व के लाभ के लिए नश्वर पदार्थों का समर्पण! ब्रह्मविद्या की उपलब्धि श्रद्धा, विश्वास तथा नम्रता से होती है, मूल्यवान् द्रव्यों के भी दान से नहीं। उन्होंने क्रुद्ध होकर कहा—'अरे शूद्र, ये गायें, यह रथ, यह हार तुम्हारे ही पास रहे, मुझे इनकी आवश्यकता ही क्या? इन पदार्थों के बल पर क्या तुम मुझसे ब्रह्मविद्या सीखना चाहता है? तुम्हें राजा होने का गर्व है क्या? दूर हटो यहाँ से।'

३

जानश्रुति के लिए यह अनभ्र वज्रपात था। वे उलटे पाँव घर तो लौट आये, पर 'शूद्र' सम्बोधन सुनकर उनके विस्मय का ठिकाना न रहा। महर्षि ने उन्हें शूद्र क्यों कहा? वे तो क्षत्रिय राजन्य ठहरे, जनश्रुत के उज्ज्वलवंश को सुशोभित करने वाले मानो महीपति। शूद्र को ही ब्रह्मविद्या के उपदेश का निषेधशास्त्र करता है और ठीक ही करता है। अधिकारी को

ही विद्यादान का विधान है। जिसे किसी विषय के ग्रहण करने की क्षमता न हो उसे उसका उपदेश क्या सफल हो सकता है ? ब्रह्मविद्या से बढ़ कर सूक्ष्मविद्या हो ही क्या सकती है ? उसके लिए तप की, श्रद्धा की तथा सात्त्विक भाव की आवश्यकता होती है। उच्च मानसिक विकाश वाला व्यक्ति ही उसे हृदयंगम कर सकता है तथा उससे लाभ उठा सकता है। उपनयन से रहित शूद्रों के लिए इसीलिए वेद के श्रवण का अधिकार नहीं है। जान पड़ता है कि महात्मा रैक्व ने मेरे लिए 'शूद्र' शब्द का प्रयोग यौगिक अर्थ में किया है। हंसों के वचन सुनकर मैं शोक से आक्रान्त हो गया। रैक्व की महिमा सुनकर मेरा चित्त द्रवीभूत हो गया था। इसी हेतु रैक्व ने इस शब्द का प्रयोग यौगिकरूपों में मेरे लिए किया है।

इस विचार से राजा का चित्त आश्वस्त हुआ। ब्रह्मविद्या की प्राप्ति की लालसा ने उनके चित्त में स्फूर्ति भर दी। वे पुनः ऋषि के पास गये। इस बार उन्होंने दान की राशि द्विगुणित कर दी। जानश्रुति ने अपना भक्तिनम्र मस्तक ऋषि के सामने झुकाया और एक सहस्र गायें, सोने का हार, अश्वतरी रथ, तो दिया ही। साथ ही साथ अपनी प्यारी पुत्री को उपयमन के निमित्त उन्हें समर्पण किया। उस गाँव को जिसमें उनका निवास था ऋषि को दे डाला। रैक्व तो स्वयं अकिञ्चन तथा अनिकेतन ठहरे। उन्हें इन वस्तुओं की आवश्यकता ही क्या थी ? परन्तु राजा के आग्रह करने पर उन्हें ग्रहण करना ही पड़ा। स्नेही चित्त के आग्रह का उल्लंघन भी तो अधर्म ही है।

महर्षि रैक्व 'संवर्ग विद्या' के उपासक थे। उन्होंने इस विद्या

के मूल तत्त्वों का उपदेश देना आरम्भ किया—'संवर्ग' शब्द का अर्थ है संवर्जन, संग्रहण अथवा संग्रसन, वह वस्तु जो अन्य पदार्थों को अपने में मिला लेती है। यह 'संवर्ग' वायु ही है। जब अग्नि बुझता है, तब वह वायु में ही लीन हो जाता है। जब सूर्य अस्त हो जाता है, तो वह वायु में ही लीन होता है। चन्द्रमा की भी अस्त होने पर यही दशा होती है। इस विश्व का मूल तत्त्व 'वायु' ही है। विश्व में जितनी गति होती है वह वायु का ही कार्य है। यह सत्य बात है कि सूर्य और चन्द्र अस्त हो जानेपर अपने रूप को धारण ही किये रहते हैं, परन्तु उनके अदर्शन का कार्य वायु के ही कारण होता है। इसी प्रकार जब जल सूख जाता है, तब वह वायु में ही लीन हो जाता है। जो बात ब्रह्माण्ड में घटित होती है, इस पिण्ड में भी वही बात है। प्राण ही संवर्ग है। जब मनुष्य सोता है, तब उसकी वाग् इन्द्रिया, चक्षु, श्रोत्र, मन प्राण में ही लीन हो जाते हैं। समस्त इन्द्रियों में प्राण ही सर्वश्रेष्ठ है। इतर इन्द्रियों के चले जाने पर पुरुष अपना कार्य निर्वाह करता रहता है, परन्तु प्राण के निकलते ही उसके समस्त व्यापार रुक जाते हैं; वह निश्चेष्ट हो जाता है। इस प्रकार समस्त इन्द्रियों में 'प्राण' की ही महत्ता है। दो ही संवर्ग हैं। देवताओं में वायु और इन्द्रियों में प्राण। ये दोनों संवर्ग ब्रह्म के ही रूप हैं। इन दोनों की उपासना ब्रह्म की ही उपासना है। अन्न दान से उत्पन्न होने वाला फल क्षणभंगुर होता है, परंतु ब्रह्म की उपासना का फल अनश्वर होता है। उससे सद्यः मोक्ष की प्राप्ति होती है'।

राजा जानश्रुति की अभिलाषा पूर्ण हुई। रैक्व का उपदेश सुनकर उनकी कामनावल्ली फलसम्पन्न हो गई। अनिकेतन मुनिका ज्ञान प्रासाद में रहने वाले सम्राट् के नेत्रों का उन्मीलन करने वाला सिद्ध हुआ।
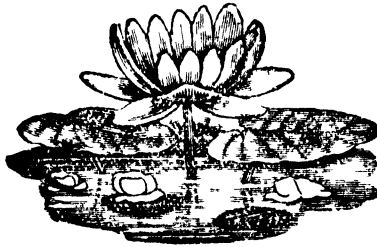
MODERN REVIEW

This is a sheaf of elevn stories, the atmosphere and environment of which are suffused with the truths and times of the Vedas. Apart from their conjuring up, before the reader, the vision and vista of light in which the spiritual stalwarts of Ancient Aryavarta lived, they help him considerably in understanding the import of a number of well-known verses in the Samhita, the Brahamans and the Upanishadas. (The author has given chapter and verses of these to enable the reader to refer to the original, should he so desire). There is, therefore, an undying evergreen freshness in those 'fables' as one is tempted to characterize the collection of tales under review. Shree Baldevaji's style is simple, even though the subjects selected for treatment by him bave an ethical as well as intellectual severity. The young and the old, consequently, can equally derive pleasure and profit from a perusal of Vadik Kahaniya.

लेखक की अनुपम कृतियाँ

(१) संस्कृत कवि चर्चा—संस्कृत के प्रसिद्ध कवियों की समीक्षा २॥)

(२) संस्कृत साहित्य का इतिहास---समग्र साहित्य का महत्त्वपूर्ण विवेचन। ३)

(३) संस्कृत वाङ्मय—संस्कृत के विशाल साहित्य का संक्षिप्त परिचय १)

(४) बौद्ध दर्शन—बौद्ध दर्शन के नाना दार्शनिक चिन्तनों का प्रामाणिक तथा सर्वांगपूर्ण अभिनव विवेचन (प्रेस में)

शारदा मन्दिर

काशी।